THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178944

UNIVERSAL
LIBRARY

दि गुलामी

किताब महल

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. [illegible] | R14D1 Accession No. H1.72

Author [illegible]

Title [illegible] | 1944

This book should be returned on or before the date last marked below.

निवेदन (१९३९)

:०:

इस पुस्तिका में संगृहीत निबन्ध पहिले भिन्न-भिन्न पत्रिकाओं में निकले थे। विषय सामयिक होने से कितनी ही जगह परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है। मैंने अपेक्षित परिवर्त्तन नहीं किये हैं, पाठक स्वयं कर लें।

राहुल सांकृत्यायन

द्वितीय संस्करण

इस संस्करण में जहां तहां बहुत थोड़े से परिवर्त्तन कर दिये गये हैं।

प्रयाग
८-७-१९४४

राहुल सांकृत्यायन

विषय-सूची

—:o:—

			पृष्ठ
१—दिमागी गुलामी	...	...	१
२—गान्धीवाद	...	...	१२
३—हिन्दू-मुस्लिम समस्या	...	...	२७
४—शिक्षा में आमूल परिवर्त्तन	...	...	३८
५—नव-निर्माण	...	...	५२
६—ज़मीन्दारी नहीं चाहिये	...	...	६६
७—किसानो, सावधान !	...	...	७६
८—अछूतों को क्या चाहिये ?	...	...	८४
९—खेतिहर-मज़दूर	...	...	९२
१०—रूस में ढाई मास	...	...	९८

१—दिमागी गुलामी

जिस जाति की सभ्यता जितनी पुरानी होती है उसकी मानसिक दासता के बन्धन भी उतने ही अधिक होते हैं। भारत की सभ्यता पुरानी है, इसमें तो शक ही नहीं और इसीलिए इसके आगे बढ़ने के रास्ते में रुकावटें भी अधिक हैं। मानसिक दासता प्रगति में सब से अधिक बाधक होती है। हमारे कष्ट, हमारी आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक समस्यायें इतनी अधिक और इतनी जटिल हैं कि हम तब तक उनका कोई हल सोच नहीं सकते जब तक कि हम साफ़-साफ़ और स्वतंत्रतापूर्वक इन पर सोचने का प्रयत्न न करें। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में भारत में राष्ट्रीयता की बाढ़-सी आ गई, कम से कम तरुण शिक्षितों में। यह राष्ट्रीयता बहुत अंशों में श्लाघ्य रहने पर भी कितने ही अंशों में अंधी राष्ट्रीयता थी। झूठ-सच जिस तरीक़े से भी हो अपने देश के इतिहास को सब से अधिक निर्दोष और गौरवशाली सिद्ध करने अर्थात अपने ऋषि-मुनियों, लेखकों और विचारकों, राजाओं और

राज-संस्थाओं में बीसवीं शताब्दी की बड़ी से बड़ी राजनैतिक महत्व की चीज़ों को देखना हमारी इस राष्ट्रीयता का एक अङ्ग था। अपने भारत को प्राचीन-भारत और उसके निवासियों को हमेशा से दुनिया के सभी राष्ट्रों से ऊपर साबित करने की दुर्भावना से प्रेरित हो हम जो कुछ भी अनाप-शनाप ऐतिहासिक खोज के नाम पर लिखें उसको यदि पाश्चात्य विद्वान न मानें तो झट से फ़तवा पास कर देना कि सभी पश्चिमी ऐतिहासिक अङ्गरेज़ी और फ्रांसीसी, जर्मन और इटालियन, अमेरिकन और रूसी, डच और जेकोस्लाव सभी बेईमान हैं, सभी षड़यन्त्र करके हमारे देश के इतिहास के बारे में झूठी-झूठी बातें लिखते हैं। वे हमारे पूजनीय वेद को साढ़े तीन और चार हज़ार वर्षों से अधिक पुराना नहीं होने देते; (हालाँ कि वह ठीक एक अरब बानबे करोड़ वर्ष पहले बने थे) इन भलेमानसों के ख़्याल में आता है कि अगर किसी तरह से हम अपनी सभ्यता, अपनी पुस्तकों और अपने ऋषि-मुनियों को दुनिया में सब से पुराना साबित कर दें तो हमारा काम बन गया। शायद दुनिया हमारे अधिकारों की प्राचीनता को देखकर बिना झगड़ा-झंझट के ही हमें आज़ाद हो जाने दे अन्यथा हमारे तरुण अपनी नसों में उस प्राचीन सभ्यता के निर्माताओं के रक्त के होने के अभिमान में मतवाले हो जायँ और फिर अपने राष्ट्र की उन्नति के

लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी भी उनके बायें हाथ का खेल बन जाय। और तब हमारे देश को आज़ाद हो जाने में कितने दिन लगेंगे? आज हमारे हाथ में चाहे आग्नेय अस्त्र न हों, नई-नई तोपें और मशीन-गन न हों, समुन्दर के नीचे और हवा के ऊपर से प्रलय का तूफान मचानेवाले पनडुब्बियाँ और हवाई जहाज़ न हों; लेकिन यदि हम राजा भोज के काठ के उड़नेवाले घोड़े और शुक्रनीति में बाल्द साबित कर दें तो हमारी पांचों अंगुलियां घी में। इस बेवकूफी का भी कहीं ठिकाना है कि बाप-दादों के झूठ-सूठ के ऐश्वर्य से हम फूले न समायें और हमारा आधा जोश उसी की प्रशंसा में खर्च हो जाय।

अपने प्राचीन काल के गर्व के कारण हम अपने भूत के स्नेह में कड़ाई के साथ बध जाते हैं और इससे हमें उत्तेजना मिलती है कि अपने पूर्वजों की धार्मिक बातों को आँख मूंद कर मानने के लिए तैयार हो जायँ। बाल्द और उड़नखटोला में तो झूठ-साँच पकड़ने की गुंजाइश है, लेकिन धार्मिक क्षेत्र में तो अँधेरे घर में काली बिल्ली देखने के लिए हरेक आदमी स्वतंत्र है। न यहां सोलहो आना बत्तीसो रत्ती ठीक-ठीक तौलने के लिए कोई तुला है और न झूठ-साँच की कोई पक्की कसौटी। एक चलता-पुर्जा बदमाश है। उसने अपने कौशल, रुपये-पैसे और धोखेधड़ी तथा

और तरह के प्रलोभन से कुछ स्वार्थियों या आंख के अंधे गाँठ के पूरों को मिलाकर एक नकटा पंथ कायम कर दिया और फिर लगी हजारों छोटी-मोटी शिक्षित और मूर्ख, काली और सफेद भेड़ें हांहाकर नाक कटाने। ज़िन्दगी भर वह बदमाश मौज करता रहा और दुनिया में वह देवता और ईश्वर मान कर पूजा जाता रहा। मरने के बाद उसके अनुयायिओं ने उसे और ऊंचा बढ़ाना शुरू किया। अगर उस जमात को कुछ शताब्दियों तक अपने इस प्रचार में कामयाबी मिली तो फिर वह धूर्त्त दुनिया का महान पुरुष और पवित्र आत्मा प्रसिद्ध हो गया।

पुराने वक्त की बातों को छोड़ दीजिये। मैंने अपनी आँखों से ऐसे कुछ आदमियों को देखा है जिनमें कुछ मर गये हैं और कुछ अभी तक ज़िन्दा हैं। उनका भीतरी जीवन कितना घृणित, स्वार्थपूर्ण और असंयत था; लेकिन बाहर भक्त लोग उनके दर्शन सुमधुर आलाप से अपने को अहोभाग्य समझने लगते थे। नज़दीक से देखिये, ये धार्मिक महात्माओं के मठ और आश्रम ढोंग के प्रचार के लिए खुली पाठशालायें हैं और धर्म-प्रचार क्या, पूरे सौ सैकड़े नफे का रोज़गार है। अधिकांश लोग इसमें अपने व्यवसाय के ख्याल से जुटे हुए हैं। अयोध्या में एक महात्मा थे। उनसे रामजी इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने स्वयं बैकुण्ठ से आकर उनका

पाणिग्रहण किया। हां, पाणिग्रहण किया! पुरुष थे पहले, पीछे ना भगवान की कृपा से वह उनकी प्रियतमा के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। रामजी के लिए क्या मुश्किल है? जब पत्थर मनुष्य के रूप में बदल सकता है तो पुरुष को स्त्री के रूप में बदल देना कौन-सी बड़ी बात! ऐसा-ऐसा परिवर्त्तन तो आजकल भी अनायास कितनी बार देखा गया है।

एक नया मत इधर ५०-६० वर्ष से चला है। वह दुनिया भर की सारी बेवकूफ़ियों, भूत-प्रेत, जादू-मंत्र सब को विज्ञान से सिद्ध करने के लिए तुला हुआ है। बेवकूफ़ हिन्दुस्तानी समझते हैं कि ऑक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज से गदहे नहीं निकलते और सभी जैक और जान्सन साइंस छोड़कर दूसरी बात ही नहीं करते। इन अधकचरे पंडितों ने अपने अधूरे ज्ञान के आधार पर भूत-प्रेत, देवी-देवता, साधुपूजा सब को तीस बरस पहले निकले वैज्ञानिक "सिद्धान्तों" से सिद्ध करना शुरू किया। हालाँकि उन सिद्धान्तों में अब ७५ फ़ी सदी ग़लत साबित हो गये हैं, लेकिन अभी अन्धे भक्तों के लिए उस पुराने विज्ञान के पुट से तैयार किए हुए ग्रन्थ ब्रह्मवाक्य बन रहे हैं। हिन्दुस्तान का इतिहास बहुत लम्बा-चौड़ा है ही—काल और देश दोनों के ख़्याल से। हमारी बेवकूफ़ियों की लिस्ट भी उसी तरह बहुत लम्बी-चौड़ी है। अंधी राष्ट्रीयता

और उसके पैग़म्बरों ने हममें अपने भूत के प्रति अत्यन्त भक्ति पैदा कर दी है और फिर हमारी उन सभी पूर्वताओं के पोषण के लिए सड़ी-गली विज्ञान की थियोरियाँ और दिवालिये स्वेतांग तैयार ही है। फिर क्यों न हम अपनी अक़्ल बेच खाने के लिए तैयार हो जाय? जिनके यहाँ वायुयान ही नहीं, काठ के घोड़े भी आकाश में उड़ते हों, जिनके यहां बारूद और आग्नेयास्त्र ही नहीं, मुख से निकली हुई ज्वाला में करोड़ों शत्रु एक क्षण में जलकर राख हो जाते हों, जिनकी सूक्ष्म दार्शनिक विवेचनाओं और आत्मवञ्चनाओं को सुन कर आज भी दुनिया दंग हो जाय वह भला किसी बात को झूठा लिख सकता है? निपाई पर भूत बुलाना, मेस्मेरिज़्म, हिप्नाटिज़्म आदि के द्वारा पहले वैज्ञानिक ढंग से हमें अपनी विस्मृत होती जाती बेवकूफ़ियों के पास ले जाया गया और अब तो विज्ञान पारितोषिक विजेता लोग सरेमैदान हरसू राम और हरिराम ब्रह्म की विभूति बाँट रहे है। आखिर जब नोबुल पुरस्कार विजेता ऑलिवर लाज भूतों-प्रेतों पर पुस्तकें लिख रहा है और क़सम खा-खाकर लोगों में उनका प्रचार कर रहा है तो हमारे इन स्वदेशी भाइयों का क़सूर ही क्या?

अभी तक शिक्षित लोग फलित ज्योतिष को झूठ समझते थे, लेकिन अब उसके भी काफ़ी से अधिक हिमायती हो चले है। वह

इसे पक्का विज्ञान मानते हैं। ज्योतिषियों की भविष्यवाणी को छापने के लिए हमारे अखबार एक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं। २७ अगस्त की 'सर्चलाइट' एक ज्योतिषी महाराज की मौसिम सम्बन्धी भविष्यवाणी को एक प्रधान पृष्ठ पर स्थान देती है। फिर पूना में लाखों रुपये खर्च करके इसके लिए यंत्र और विशेषज्ञ रखने की क्या ज़रूरत है? स्वदेशी का जमाना है, कांग्रेस का मंत्र-मंडल भी हो गया है। ज्योतिषियों को चाहिये कि एक बड़ा-सा डेपुटेशन लेकर प्रधान मंत्रियों से मिलें। उनको विश्वास रखना चाहिये कि कांग्रेस के छः प्रान्तों में ऐसे मंत्री बहुत कम ही होंगे जिनका ज्योतिष में विश्वास न होगा, ज्योतिषी लोग देश सेवा के ख्याल से अपना वेतन कम करने को तैयार होंगे ही, फिर क्या ज़रूरत है कि स्वदेशी साधन के रहते ऋतु-भविष्य-कथन के यंत्र, भूकम्प के सिस्मोग्राफ आदि का बखेड़ा और उस पर हज़ार-हज़ार पन्द्रह-पन्द्रह सौ रुपये महीना लेने वाले विशेषज्ञों को रखा जाय? ज्योतिषी लोग अपने काम को बड़ी सफलता के साथ कर सकते हैं। उन्हें न यंत्रों की आवश्यकता है और न बाहर से सूचनाओं के मँगाने की। एक स्थान पर बैठे ही वह सभी बातें बतला दिया करेंगे। फिर तारीफ़ यह कि एक ही आदमी अतिवृष्टि और अनावृष्टि को भी बतला देगा और भूकम्प को भी। स्वराज्य

की किश्त आने-जाने में अगर कुछ देर होगी तो उसे भी नेताओं की जन्मपत्री देखकर बतला देगा। अभी इसी साल एक महाराज बादशाह की गद्दी देखने विलायत जाना चाहते थे। दुष्ट ग्रहों की उन्हें बड़ी फ़िक्र थी, और उनसे भी अधिक फ़िक्र थी उनकी माँ की। एक ज्योतिषी जी ने आकर मेष-मिथुन गिन कर महाराज को भी सन्तुष्ट कर दिया कि कोई ग्रह ख़िलाफ़ नहीं है और माँ को भी खम ठोक कर कह दिया कि महाराज को कोई अरिष्ट नहीं है, मैं जिम्मेवारी लेता हूँ। सब लोग प्रसन्न हो गये। ज्योतिषी जी को ५,०००) मिले। भला इतना सस्ता ज़िन्दगी का बीमा कहीं हो सकता है? ऐसा होने से एक और फ़ायदा होगा। हरेक प्रांतीय सरकार में एक सरकारी ज्योतिषी और १०-५ सहायक ज्योतिषी होने पर मंत्रियों और पदाधिकारियों को भी ज्योतिषियों के पीछे गली-गली की ख़ाक न छाननी पड़ेगी। अपनी बीबी और छोटे-मोटे बबुआ-बबुनी सबका वर्षफल साल का साल पहुँचता रहेगा। स्वदेशी व्यवसाय को ज़रूर आपको प्रोत्साहन देना चाहिये और इससे बढ़कर शुद्ध स्वदेशी व्यवसाय और क्या हो सकता है जिसके दिल, दिमाग़, शरीर और परिश्रम सभी चीज़ें सोलहो आने स्वदेशी हैं।

हम लोगों के मिथ्या विश्वास क्या एक-दो हैं कि जिन्हें एक

छोटे से लेख में लिखा जा सके ? हमारे यहां तो इसके मिसिल के मिसिल और फाइल के फाइल तैयार हैं। और तारीफ़ यह है कि इन बेवकूफ़ियों के भारी भरकम बोझ को सिर पर लादे हुए हमारे नेता लोग समुन्दर पार कर जाना चाहते हैं। उन्हें पूरा विश्वास है कि बैकुण्ठ के भगवान, आकाश के नवग्रह, और पृथ्वी के ज्योतिषी और ओझा-सयाने उनकी यात्रा में ज़रूर कुछ हाथ बटायेंगे।

हमारी जाति-पाँति की व्यवस्था को ही ले लीजिये। यह हमारे ऋषि-मुनियों के उन बड़े आविष्कारों में है जिन पर हमें बड़ा अभिमान है। राष्ट्रीय भावनाओं की जागृति के साथ-साथ यद्यपि कुछ इने-गिने नेता लोग जाति-पाँति के ख़िलाफ़ बोलने लगे हैं, लेकिन अब भी हमारे उच्चकोटि के नेताओं का अधिकांश भाग अपने ऋषियों की इस अद्भुत विशेषता की क़द्र करने को तैयार है। नेताओं ने देख लिया है कि यह जाति-पाँति आपस के फूट, भेद-भाव के बढ़ाने का एक सब से बड़ी कारण बन रही है। कुछ साल पहले तो भीतर-भीतर जातीय संगठन भी इन्होंने कर रखा था और अब भी बहुतों को उसे छोड़ने में मोह लगता है। मै अन्य नेताओं की बात नहीं कहता। मै ख़ास कांग्रेस के नेताओं की बात कहता हूँ। उन बेचारों को इसी कोशिश में मरना पड़ रहा है कि कैसे

राष्ट्रीयता और जाति-पाँति दोनों साथ दाहिने-बाँये कन्धे पर वहन किये जा सकते हैं। उनमें से कुछ ने तो ज़रूर समझ लिया होगा कि यह असंभव है। शुद्ध राष्ट्रीयता तब तक आ ही नहीं सकती जब तक आप जाति-पाँति तोड़ने पर तैयार न हों। अगर आप जाति-पाँति तोड़े हुए नहीं है, तो आपका वास्तविक संसार आपकी जाति के भीतर है। बाहरवालों के साथ तो सिर्फ़ काम चलाऊ समझौता है। जब आप किसी पद पर पहुंचेंगे तो ईमानदार रहने पर आपकी राय को प्रभावित करने में सफलता सब से अधिक आपके जाति भाइयों की होगी। नौकरी-चाकरी दिलाने, कमीटी, सब-कमीटी में भेजने और शिफ़ारिसी चिट्ठी लिखने में मज़बूरन आपको अपनी जाति का ख़्याल करना होगा। आदमी के दिल में हज़ारों कोठरियाँ ज़रूर है, लेकिन वहाँ ऐसी फ़र्क-फ़र्क कोठरियाँ नहीं है जिनमें एक में जाति-पाँति का भाव पड़ा रहे और दूसरे में उससे अछूती राष्ट्रीयता बनी रहे। जैसे किसानों के आंदोलन में आनेवाले समझदार आदमियों को पहले ही से तैयार होकर आना चाहिये कि उन्हें साम्यवाद में पैर रखना है, वैसे ही राष्ट्रीयता के पथ पर पैर रखनेवालों को भी समझना चाहिये कि उन्हें जाति-पाँति की दीवारों को तोड़ गिराना होगा। यदि कोई आदमी राष्ट्रीय नेता रहना चाहता है और साथ ही अपने जाति भाइयों की घनिष्टता को क़ायम रखना

चाहता है तो या तो वह ईमानदार नहीं रहेगा या उसे असफल होकर रहना पड़ेगा। अपनी जाति के साथ घनिष्ठता रखकर कैसे दूसरी जाति का विश्वासपात्र कोई हो सकता है? मंत्रियों को तो खास तौर से सावधान रहना पड़ेगा। क्योंकि जाति भाइयों की घनिष्ठता उन्हें आसानी से बदनाम कर सकती है। मेरी समझ में प्रान्त के लिए, राष्ट्र के लिए, कांग्रेस के लिए और व्यक्तिगत तौर से नेताओं के लिए अच्छा यही है कि हरेक प्रधान नेता तुरत-से-तुरत अपने लड़के-लड़कियों, भतीजे-भतीजियें—अथवा भांजा-भांजियों या नाती-नतनियों में से कम से कम एक की शादी जाति-पाति तोड़ कर दिखला दे जैसा कि महात्मा गांधी जी तथा राजगोपालाचारी ने करके दिखाया।

आंख मूंद कर हमें समय की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। हमें अपनी मानसिक दासता की बेड़ी की एक-एक कड़ी को बेदर्दी के साथ तोड़ कर फेंकने के लिए तैयार होना चाहिये। बाहरी क्रान्ति से कहीं ज़्यादा ज़रूरत मानसिक क्रान्ति की है। हमें दाहिने-बायें, आगे-पीछे दोनों हाथ नंगी तलवार नचाते हुए अपनी सभी रूढ़ियों को काट कर आगे बढ़ना चाहिये। क्रान्ति प्रचंड आग है, वह गांव के एक झोपड़े को जला कर चली नहीं जायगी। वह उसके कच्चे-पक्के सभी घरों को जला कर खाक कर देगी और हमें नये सिरे से नये महल बनाने के लिए नींव डालनी पड़ेगी।

२—गान्धीवाद

पिछले सोलह वर्षों से भारत में गांधीवाद की बड़ी धूम है। और प्रान्तों में अधिकांश लोग गांधीवाद के बहुत कम अंशों से सहमत हैं, लेकिन बिहार में गांधीवाद का एकमात्र साम्राज्य समझा जाता है। बिहार पहले से भी बंगाल के अधीन रहने के कारण सब बातों में परमुखापेक्षी रहा है, नौकरी-चाकरी, वकील-बैरिस्टर, प्रोफ़ेसर और अध्यापक सभी जगह पर उनकी संख्या और प्रभाव नगण्य-सा रहा है। वैसे तो मातृभाषा हिन्दी युक्तप्रान्त जैसे दूसरे प्रान्तों में भी दासी के ही तौर पर कचहरियों और सरकारी दफ़्तरों में रखी गई थी, लेकिन बिहार में तो उसकी दशा और भी दयनीय रही। जहाँ और हिन्दी भाषाभाषी प्रान्तों में सरकार से न सही, प्राइवेट संस्थाओं और व्यक्तियों द्वारा हिन्दी के हक़ की पूरी हिमायत की गई वहाँ बिहार में उसकी तरफ़ बहुत कम ख़्याल रखा गया। यूनिवर्सिटी के ग्रेजुएट जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के होते थे, अव्वल तो उनमें साहित्यिक रुचि होने नहीं पाती थी और यदि किसी को हुई तो उसे बंगला साहित्य के बारे में जानने

के लिए अधिक सुविधा थी। बिहार के ज़मींदार तो सब से निकम्मे, असंस्कृत और संसार की प्रगति से अनभिज्ञ रहते आये हैं। उनसे इस क्षेत्र में कोई आशा करना दुराशा मात्र था। ये ही कारण हैं जिन्होंने बिहारियों को लजालू, संकोची और सार्वजनिक स्थानों में बोलने-चालने तथा अपने को आगे लाने में भीरु बना दिया। किसी भी उन्नतिशील जाति के लिए जिन गुणों की आवश्यकता है उनकी बिहारियों में कमी नहीं है। यदि आप बिहार में १९२१ में असहयोग करके आये हुए छोटे-बड़े कार्यकर्त्ताओं की ओर दृष्टि डालें और उनकी तुलना दूसरे प्रान्तों से करें तो मालूम होगा कि बिहारी असहयोगियों ने जिस आदर्श के लिए अपनी वैयक्तिक उच्चाकांक्षाओं का त्याग किया, वे उस आदर्श पर बहुत अधिक संख्या में क़ायम रहे। यह बहुत आसानी से समझा जा सकता है कि अपने आदर्श के लिए त्याग करने में बिहारियों में स्थिरता इतनी रही है जितनी शायद ही भारत के किसी अन्य प्रान्त में रही हो। त्याग की स्थिरता के साथ बिहारियों में एक और सब से अच्छा गुण रहा है कि नेता बनने के लिए यहाँ उतने झगड़े नहीं हुए। इस प्रकार वैयक्तिक उच्चाकांक्षा की कमी भी उनके अच्छे गुणों में है। मतभेद रखते हुए भी बिहारी राष्ट्रकर्मी अनुशासन को बराबर मानते आये हैं। बिहार के साम्यवादी भी जो

बहुत सी बातों में क्या, प्रायः ही मौलिक बातों में राजेन्द्र बाबू से मतभेद रखते हैं, लेकिन तब भी वे उनका बड़ा सम्मान करते हैं और बहुत हद तक आज्ञा के अनुसार चलने के लिए तैयार रहते हैं। राजेन्द्र बाबू के बारे में भी यह कहना पड़ेगा कि वे अपने से मतभेद रखनेवालों की बातें भी बराबर ध्यान से सुनने और जहाँ तक हो सके, मतभेद को मिटाने की कोशिश करते हैं। यदि किसी बात में दोनों की राय में फ़र्क हो तो भी उसमें कड़वाहट आने नहीं देना चाहते। स्थिर त्याग, वैयक्तिक महत्वाकांक्षा पर संयम और बड़ों का अनुशासन, ये तीन बातें किसी भी जाति की सफलता के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं और ये तीनों, बहुत प्रचुर परिमाण में बिहारियों में मौजूद हैं। इतिहास को देखने से मालूम होगा कि बिहार कोने में छिपा रहनेवाली चीज़ न था। हिन्दूकुश से आसाम और हिमालय से कुमारी तक विस्तृत एक राष्ट्र का बनाना और उसको शताब्दियों तक सफलतापूर्वक चलाना बिहारियों का ही काम था। वस्तुतः यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि पाटलिपुत्र (पटना) जबसे राष्ट्रकेन्द्र नहीं रहा, तबसे सारा भारत फिर एक राष्ट्रीय सूत्र में बंध न सका। ऐसे काम के लिए बिहार अगुआ बना था, फिर वह लजालू संकोची और सभा-समाज में भीरु जैसी सूरत बना कर रह ही कैसे सकता था? मैं मानता हूँ कि ये बातें इसके दोष

हैं; और ये उसकी प्रकृति से सम्बद्ध नहीं हैं, इसका साक्षी तो इतिहास है। हाँ पिछली डेढ़ शताब्दियों में कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई जिनसे बिहारियों में ये बातें आ गईं। अब हमें उन्हें हटाने की कोशिश करनी चाहिये।

शायद ये दोष आसानी से हट भी जाते किन्तु गाँधीवाद ने अपने प्रभाव से इसे और पक्का करना चाहा है। मुँह सूखा, आँखें मुर्झाईं, सिर नीचे झुका, छाती पैर की ओर दबी, यही तो गांधीवाद का आकार लोगों के सामने आता है। और उसने अपने भक्त बिहारियों पर यदि यह छाप छोड़नी चाही तो इसमें आश्चर्य ही क्या! गांधीवाद ने भारतीय इतिहास में सबसे उल्लेखनीय महत्व की जो बात की वह है साधारण जनता तक क्रान्ति के सन्देश को पहुँचाना और उसके लिए स्वार्थ त्याग का भाव पैदा करना। यह मामूली बात नहीं है और इसके लिए इतिहास हमेशा गाँधी जी का नाम आदर और अभिमान के साथ लेगा। लेकिन उसके साथ ही उसने राष्ट्र का सब से बड़ा अपकार भी किया है और वह है हमारी पुरानी बेवकूफ़ियों के प्रति गाढ़ी श्रद्धा पैदा कर देना। यह मानता हूँ कि इतिहास में पहली ही बात स्थायी होकर रहेगी। दूसरी बात को शायद एक शताब्दी के भीतर ही लोग भूल जायेंगे लेकिन

इस वक्त और अभी दस-बीस वर्ष तक हमारे राष्ट्र को इसका फल भोगना पड़ेगा।

सब से बड़ी बेवकूफी जिसे गांधीवाद ने सहारा और उत्तेजना दी है वह धर्म की कट्टरता है। लोग कहेंगे कि गांधी जी ने अछूतोद्धार जैसे आन्दोलन उठाकर, धर्म के विचारों में भी तो क्रान्ति पैदा की है। अछूतोद्धार तो मालवीय जी भी अपने ढंग से करना चाहते हैं और साथ में हिन्दू यूनिवर्सिटी में बीस लाख रुपया लगाकर एक नया विश्वनाथ तैयार करना चाहते हैं। क्या यह बीसवीं शताब्दी के सब से बड़े हिन्दू नेता की सब से बड़ी बेवकूफी नहीं है? गांधी जी के अछूतोद्धार का महत्व बहुत घट जाता है जब हम उसके साथ ऋषि-मुनियों और उनके ग्रन्थ-गीता आदि के गौरव को उनके द्वारा खूब बढ़ाया जाता देखते हैं। जिन ग्रन्थों में अछूतपने की बात भरी पड़ी है और जिन ऋषि-मुनियों ने अपने आश्रमों के आसपास मनुष्य नामधारी दास-दासियों के ऊपर सहस्राब्दियों तक अमानुषिक अत्याचार होते देख कर भी अपनी तपस्या भंग न की, उनके ग्रन्थ अछूतोद्धार के बाधक छोड़ साधक कैसे हो सकते हैं? गांधी जी विपक्ष में जानेवाले वाक्य की नई व्याख्या कर अपना काम चलाना चाहते हैं। भारत में पहले भी ऐसे कुछ सुधारक हुए हैं जिनके काम करने का यही ढंग था।

लेकिन यह तो नासूर पर ऊपरी मरहम-पट्टी है। यही शास्त्र और ऋषि-मुनियों के प्रति गौरव तो और भी इस अछूतपने की नींव को मज़बूत करने के कारण बने हैं और गांधी जी चाहते हैं कि शास्त्र और ऋषि-मुनियों के गौरव में भी कोई बट्टा न आने पाये और साथ ही मुनियों का यह सब से बड़ा अत्याचार भी हमारे समाज से विदा हो जाये।

अपने वचन और आचार द्वारा ही नहीं, बल्कि प्रार्थना-सम्मेलनों के प्रदर्शन से भी उन्होंने ईश्वर-भक्ति की बहुत पुष्टि की है। मनुष्यों की असमानता—आर्थिक और सामाजिक दोनों ही तथा रूढ़ियों के पोषण में ईश्वर का ख़्याल सब से अधिक सहायक साबित हुआ है। संसार के हर समय के हरेक क्रान्तिकारी इस बात को अच्छी तरह जानते थे और इसीलिए उनके यहाँ ईश्वर के लिए स्थान नहीं दिया गया। गांधी जी एक तरफ़ तो संसार का बनाने-बिगाड़नेवाला ईश्वर को कहते हैं और दूसरी तरफ़ मनुष्य को भी अपने भविष्य के लिए उद्योग करने की शिक्षा देते हैं। निश्चय ही स्वार्थियों, ढोंगियों और सोचने की ताक़त खो दिये हुए दिमाग़ों को गांधी जी की ईश्वर-भक्ति से बहुत सहायता मिलती है, लेकिन राष्ट्र की जो कठिनाइयाँ और दुःख हैं वे सच्चे हैं, काल्पनिक नहीं। ईश्वर-भक्ति उसे भुला देने में सहायक हो सकती है, लेकिन हरेक

पेचीदा प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने में बाधक भी बहुत होती है । हमारे राष्ट्रीय नेताओं को जेल में वर्ष-वर्ष तक का निश्चिन्त समय मिला था। यदि वे चाहते तो इस समय को बहुत आसानी से भारत की आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के हल करने के विचार में तथा तत्सम्बन्धी विशाल साहित्य के अध्ययन में लगा सकते थे, लेकिन उनके सामने तो गांधी जी का सतयुग और राम राज्य था। उनको आजकल के शैतानी साहित्य—अर्थशास्त्र और साइंस—से क्या प्रयोजन ? कोई गीता की एक आवृति रोज़ कर लेता था। बिहार के कुछ संभ्रान्त नेता तो इस बड़ी खोज में लगे हुए थे कि अठारहों अध्याय गीता में 'क' कितनी बार आया है और 'ष' कितनी बार। उनको लिखने-पढ़ने से क्या मतलब ? जिन्होंने १९२१ ई० में कालेज छोड़ा उनके लिए विज्ञान और विद्या उन्हीं के विद्यार्थी जीवन में अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई थी। पिछले सोलह-सत्रह वर्षों में मनुष्य के दिमाग ने सिवाय बेवकूफ़ी के क्या कोई गम्भीर विचार या साहित्य निकाल पाया है ? मुश्किल तो यह है कि उन्होंने कालेज में जो पढ़ा था उसे भी वहीं कालेज के दरवाज़े पर झाड़ कर चले आये थे। क्या वे जानते नहीं थे कि उन्हें एक समय गवर्नमेंट की बागडोर अपने हाथ में संभालनी पड़ेगी उस वक्त गीता और रामायण से कम नहीं चलेगा ? उस समय

विज्ञान की हरेक शाखा का, जिसका कि राजनीति से घनिष्ठ सम्बन्ध है, ज्ञान आवश्यक होगा। और ऐसा न करने पर कांग्रेसी मन्त्रियों को भी अपने विभाग के पदाधिकारियों के हाथ में रहना पड़ेगा क्योंकि जहां ये पदाधिकारी अपने विषय के विशेषज्ञ होंगे हरेक बात को आंकड़ों, योजनाओं और सिद्धान्तों के साथ-साथ पोथी की पोथी पेश कर सकेंगे वहाँ हमारे मंत्री लोग फाइल पर सिर्फ़ दस्तख़त कर देने की शक्ति रखेंगे। और ज़्यादा हुआ तो कुछ उलटे-सीधे सभा में अपने क्रान्तिकारी और आदर्शवाद तथा त्याग पर व्याख्यान झाड़ देंगे। निश्चय ही यह आसान काम है क्योंकि न इसमें बहुत दिमाग ख़र्च करने की ज़रूरत है, न पढ़ने-लिखने की। हमारे नेताओं में इस शोचनीय स्थिति के लाने की सारी जिम्मेवारी गांधीवाद पर है और जब तक यह अंधी भक्ति दूर नहीं होती तब तक हमें अधिक आशा रखने का ख्याल छोड़ देना चाहिये।

गांधी जी कहते हैं कि नशा को हिन्दुस्तान से बिलकुल बिदा कर देना चाहिये। ताड़ी हो या देशी शराब, और शायद गांजा और भाँग भी, सभी को वे देशनिकाला देना चाहते हैं। सिगरेट और तम्बाकू को भी वे बहुत दिनों तक यहाँ रखना न चाहेंगे। युरोपियन लोगों के लिए कुछ परिमाण में विदेशी शराब लाने की

रियायत भी करने के लिए तैयार है। बिहार के पाँच करोड़ के बजट में १ करोड़ १७ लाख शराब से आता है, उसे वे एकदम बन्द कर देने की सम्मति दे रहे हैं। चाहे आपके स्कूल-कालेज बन्द हों, चाहे लड़के आधुनिक ज्ञान से वंचित हों, लेकिन वे नहीं चाहते कि शराब बेचकर मिले इस पाप के धन से विद्या पढ़ कर विद्यार्थियों के दिमाग को कलुषित किया जाय। अभी कल तक गांधी जी मिल मालिकों, ज़मींदारों और बड़े-बड़े सेठ-साहूकारों को शिक्षा दे रहे थे कि हम यह नहीं चाहते कि सम्पत्ति तुम्हारे हाथ से छीन ली जाय, हम यही चाहते हैं कि तुम अपने को ग़रीबों का अभिभावक और गार्जियन समझो। तो अभिभावक और गार्जियन लोग अब गांधीजी के इस वचन के भरोसे कह सकते हैं कि हम अब अभिभावक रहना चाहते हैं। हमारे ऊपर अब कोई नया-नया टैक्स न लगाया जाय, न ज़मींदारी प्रथा उठाई जाय, न ज़मींदारों के किसी हक को छूआ जाय। इस प्रकार आबकारी की आमदनी इस तरह से बन्द हो जायगी और इधर अभिभावक ज़मींदारों और मिलमालिकों को गांधी जी का वरदान मिल ही गया है। अब चलो, चुपचाप बैठे-बैठे प्रेमभवन में माला जपते रहो। ताड़ी को भी गांधी जी शराब के साथ ही रखना चाहते हैं—ताड़ी या तो तुरन्त वृक्ष से नीचे उतरते ही पी ली जाय या उसका गुड़ बना

लिया जाय, उसको एक दो दिन भी रखने की इजाजत न दी जायगी। नशा तो रोकना चाहिये और अफ़ीम जैसे नशों को रोकने के लिए अगर जबर्दस्ती भी की जाय तो कोई हर्ज नहीं। शराब जो स्वास्थ्य को तुरन्त नुकसान पहुंचाती है, उसको भी रोकना ठीक ही है। लेकिन सभी व्यक्तियों के लिए जिस चीज़ में ज़रा भी नशा या अलकोहल का सम्पर्क आ जाय उन सभी को राजीखुशी या जबर्दस्ती चौबीस घंटे के भीतर बन्द करना और उसे भी ऐसी अवस्था में जब कि प्रान्त की एक भारी आमदनी का हाथ से निकल जाने का सवाल है, कहाँ तक राजनीति समझा जायगा? और ताड़ी को, अगर उसमें हल्का-सा नशा आ भी जाय तो भी, जब तक वह खाद्य के रूप में ताक़त पहुचा सकती है, तब तक उसे रोकने के लिए इतनी तत्परता दिखलाने की क्या आवश्यकता? ताड़ी को तो बल्कि शराब छुड़ाने का साधन बनाना चाहिये, एक ख़ास हद तक हल्का नशा आने को देख लेना चाहिये और उतने दिनों तक उसके रखने की आज्ञा देनी चाहिये जितने में कि नशा की मात्रा नियमित परिमाण से अधिक न बढ़ने पाये। ताड़ी में बहुत पुष्टिकारक शक्ति है, देहात में कितने लोग सिर्फ स्वास्थ्य-सुधार और शरीर को मज़बूत करने के लिए साल में एक दो महीना ताड़ी पीते हैं और

उनके स्वास्थ्य में प्रत्यक्ष ही सुधार देखने में आता है। ताड़ी को भी शराब और अफ़ीम की श्रेणी में गिन लेना और फिर उसके पूर्ण बहिष्कार के लिए जोर देना ऐसे ग़रीब लोगों के लिए अन्याय है जिनको उसके जरिये शारीरिक पुष्टि मिलती है। आबकारी को हटाने के लिए तीन बातों की ओर ज़रूर ख़्याल रखना होगा—एक ताड़ी के लाभ को, जो नशा की एक ख़ास सीमा के भीतर रखने से होता है; दूसरे स्वाभाविक नशेबाजों को कुछ ताड़ी जैसी चीज़ के जरिये अपनी पुरानी नशेबाजी से हटाने के लिए इस्तेमाल करना; तीसरे हमें यह भी देखना होगा कि इसकी इतनी बड़ी आमदनी जिसके न होने पर हमें अपने सारे स्कूल और कालेज बन्द करने होंगे—एकबाएक नहीं छोड़ा जा सकता। पहले उसके लिए कोई एक रास्ता निकालिये तब ऐसा कर सकते है। अगर वैयक्तिक सम्पत्ति उठा दी गई होती और लोगों के परिश्रम को बढ़ा कर अधिक जीवन सामग्री पैदा की जाती तो आबकारी की आमदनी आदि का सवाल ही नहीं उठता। लेकिन गाँधी जी तो वैयक्तिक सम्पत्ति को भी शायद भगवान की आज्ञा से मिली माननी होंगे, इसलिए उस पवित्र सम्पत्ति पर वे कैसे हाथ डालने देंगे—उनका तो सीधा उत्तर है अगर आमदनी कम हो जाती है तो शिक्षण संस्थाये बन्द कर दो।

गांधी जी यह भी कहते हैं कि पाठशालाओं को स्वावलम्बी बना दिया जाय। कौन सी पाठशालाओं को? प्राइमरी की छः श्रेणियों को जिनमें छः से बारह वर्ष के लड़के पढ़ते हैं। हाँ, यदि गांधी जी यह नियम बनवा दें कि लोग बीस वर्ष की उमर के बाद पाठशालाओं में जाया करें तो उस समय भले ही उनके आधे परिश्रम से पाठशालायें स्वावलम्बी बन जायें। छोटे बच्चे तो हमेशा माता-पिता तथा राष्ट्र के ऊपर अपने शिक्षण का भार डालेंगे। उनके पाठशालाओं को स्वावलम्बी बनाने का ख़्याल तो वैसे ही है जैसे बच्चे को पैदा होते ही स्वावलम्बी होने का उपदेश दिया जाय। चाहे टैक्स से रुपया वसूल करके शिक्षाविभाग में ख़र्च करें या गाँव के अध्यापक को लोगों से आटा, चावल और पैसा का चन्दा करवाया जाय। स्वावलम्बी का वहाँ ख़्याल ही कैसे उठता है! असल बात तो यह है कि गांधीवाद आजकल के साइन्स और विद्या की उन्नति को शैतान की ख़ुराफ़ात समझता है और उसके प्रचार में दिल से सहानुभूति नहीं रखता। उसके अनुसार तुलसीकृत रामायण को सुन-पढ़ लेना एक आदमी की शिक्षा के लिए काफ़ी है। मिट्टी और पानी सभी बीमारियों के लिए रामबाण है ही। अस्पताल तोड़ देना चाहिये, डाक्टरों को बरख़ास्त कर देना चाहिये और मेडिकल कालेजों पर 'टु लेट' लगा देना चाहिये। वास्तव में ईश्वर-

विश्वासियों के लिए इसकी है भी क्या ज़रूरत ? 'जाको राखे साइयां मार न सकिहै कोय' का पक्का सिद्धान्त तो मौजूद ही है। जिसको भगवान मारना चाहते हैं, उसे डाक्टर बचा ही नहीं सकते और दुख-सुख भी तो भगवान का दिया हुआ है, उसको भी कौन हटा सकता है ?

क़ैदियों के लिए जेलखाना और शान्ति रक्षा के लिए पुलिस की भी आवश्यकता नहीं। शायद वे समझते होंगे कि क़ैदखाना, जेल और पुलिस को देख कर ही मनुष्य का देवता जैसा स्वभाव सहज ही विकृत हो जाता है। आज अगर जेल और पुलिस को हटा दिया जाय तो आप को न दरवाज़े में ताला लगाने की ज़रूरत पड़ेगी, न घर के भीतर लोहे की तिजोरी रखनी पड़ेगी। आप हज़ार दो हज़ार के नोट बेशक बरामदे की मेज़ पर रख कर बीबी-बच्चों सहित दो घंटे शहर की सैर कर आयें। देवता-स्वरूप मनुष्य उस समय भला कभी उन कागज़ के टुकड़ों की ओर लोभ की नज़र से देख सकता है ? लोभ तो जेल की वजह से है—उसी तरह जिस तरह पुलिस की लाल पगड़ी को देखते लोगों के हाथ एक दूसरे का सिर फोड़ने के लिए खुजलाने लगते हैं। गांधी जी पश्चिम के अराजकवादियों की तरह शायद समझते हैं कि न मनुष्य समाज को क़ानून की ज़रूरत है, न गवर्नमेन्ट की।

गांधीवाद ने इन्द्रिय-निग्रह और ब्रह्मचर्य पर भी बहुत ज़ोर दिया है। गाँधी जी के आश्रमों में तो इसके लिए सख़्त से सख़्त नियम बनाये गये हैं और शायद इन्हीं आश्रमों में इन नियमों की सबसे ज़्यादा अवहेलना भी हुई है। एक बार असफल होने पर फिर प्रयत्न किया गया और, इस तरह दर्जनों बार की असफलता पर भी सिद्धान्त में संशोधन की आवश्यकता न समझी गई। एक बिचारा छोटा आदमी, जिसने हर तरह से अपने को ईमानदार साबित किया है, वह ज़रा-सा कठोर ब्रह्मचर्य के नियम से अगर इधर-उधर डिग जाता है, तो उसकी प्रताड़ना के लिए सारे भारत के पत्रों को ख़बर दे दी जाती है और पास में बैठनेवाली बड़ी मछली अगर कितनी ही बार उन नियमों की अवहेलना करती है, तब उसके लिए उतनी कड़ाई करने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। देश की जन-संख्या बढ़ती जा रही है। उसके रोकने के लिए गांधीवाद के पास सब से सरल नुस्ख़ा है ब्रह्मचर्य। विवाहित होने पर भी पति-पत्नी एक दूसरे से अलग रहें। संतति-निरोध तो उसकी दृष्टि में अक्षम्य अपराध है। यह तो खुलेआम व्यभिचार का प्रचार करना है। ब्रह्मचर्य ही मनुष्य के लिए स्वाभाविक चीज़ है और स्त्री-पुरुष का सांभोगिक सम्बन्ध तो बिलकुल कृत्रिम चीज़ है। बढ़ती हुई जन-संख्या, जो भारत में बड़ा विकराल स्वरूप धारण कर रही है,

उसके लिए गांधीवाद ने यह उपाय सोच रखा है। यह ऐसा उपाय है जिसे पालन करनेवाले शायद गांधी जी के अनुयायियों में भी एक दर्जन न मिल सकेंगे, तो भी उसके बल पर हर दस वर्ष के भीतर तीन करोड़ की वृद्धि को रोकने का बीमा लिया जा रहा है। बात यह है कि गांधीवाद का सब से अटल विश्वास ईश्वर-भक्ति पर है। वह समझता है कि जो समस्यायें मनुष्य के लिए हल करने में तो असंभव मालूम होती है, वे ईश्वर के सामने तुच्छ हैं। वह तो पलक दरियायी है। पल गिरने में बड़ी से बड़ी समस्यायें हल कर सकता है। हाँ, इसमें क्या शक है! लेकिन इसके लिए हमें एक बड़े पैमाने में भूकम्प, प्लेग या इनफ़्लुएंजा की प्रतीक्षा करनी चाहिये।

किसी समस्या पर साफ़-साफ़ न सोचना, कठिनाइयों को अदृश्य और अप्रमाणित साधनों के ऊपर छोड़ रखना, बस यही गाँधीवाद का असली रूप है!

३—हिन्दू-मुस्लिम समस्या

हिन्दू-मुस्लिम-समस्या हिन्दुस्तान में एक न हल होने लायक़ प्रश्न समझी जाती है। अगर उसके कारणों पर दृष्टिपात करें, तो पायेंगे इस विभेद की बुनियाद किसी मज़बूत पत्थर पर नहीं है। कोई आर्थिक प्रश्न ऐसा नहीं जो इस समस्या की जड़ में हो और आर्थिक प्रश्न ही किसी बात को मज़बूत बनाता है। यह सारा झगड़ा मध्यवर्ग और उच्चवर्ग का बनाया हुआ है; बल्कि उच्चवर्ग या राजा-नवाब लोगों का हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न के साथ घनिष्ठता पैदा करना तो सिर्फ़ साधारण जनता को अपने जाल में फंसाने के लिए है। आप ज़मीन्दारों की सभा की ओर देख न लीजिये। उसमें सभी महाराज, नवाब, रायबहादुर, खाँबहादुर सगे भाई-से मालूम होंगे। असल में उनमें तो आपस में कोई उस तरह का मन भेद है और न हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से उनका कोई नुकसान होता है। मरते और जेल जाते है, तो साधारण ग़रीब लोग। ज़मीन्दार और बड़े-बड़े धनी लोग बहुत करते हैं

तो ग़रीब हिन्दू-मुसलमानों को एक दूसरे के ख़िलाफ़ भड़काते रहते हैं और जब दोनों फँस जाते हैं, तो आप नौ-दो-ग्यारह। इस समस्या की जड़ है किसान मज़दूरों का अपने आर्थिक स्वार्थ का ज्ञान न होना। बहिश्त और स्वर्ग के लोभ में, जो इन्हीं धनियों के पिट्ठुओं ने उन्हें दिया है, अपने इस जीवन को दुखमय और नरक का जीवन बना रहे हैं। यदि उन्हें यह अच्छी तरह ज्ञात हो जाय कि सभी ग़रीबों का सवाल एक है—चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान; अगर इजाफा होता है, तो सभी ग़रीबों पर; यदि बेगार और नाजायज कर वसूल किये जाते हैं, तो वे भी ग़रीबों से ही। यदि आज ज़मीन्दारी प्रथा उठती है, तो सभी हिन्दू-मुसलमान दोनों ही ग़रीबों को फ़ायदा होगा। अगर शिक्षा अनिवार्य्य की जाती है, तो उससे भी दोनों ही के बच्चे लाभ उठायेंगे। यदि देश में नया समाज और नया आर्थिक संगठन किया जाता है, तो उससे सबसे बड़ा फ़ायदा ग़रीबों को ही होगा। अगर इन बातों पर वे अच्छी तरह ग़ौर करना सीख लें, तो उन्हें मालूम होगा कि एक हज़ार में से नौ सौ निन्नानबे आदमियों को इन हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों से नुक़सान ही होगा। झगड़ों के कारण हैं विदेशी प्रभुओं का स्वार्थ, धनियों का स्वार्थ और चन्द पढ़े-लिखे लोगों की नौकरी और मेम्बरी की भूख, जिससे साधारण जनता को नुक़सान

के सिवाय फ़ायदा कुछ भी नहीं। ज़रूरत यह है कि हम सौ में निन्यानबे आदमियों के सामने रोज़-ब-रोज़ के आर्थिक प्रश्न को रखें। साम्यवादी और किसान कार्यकर्त्ता यह दिखा दें कि उन्हें हिन्दू-मुस्लिम का बिल्कुल भेदभाव नहीं है जैसा कि ज़मींदार दिखलाते हैं; बल्कि ज़मींदारों को तो अपना ढोंग भी जनता के सामने रखना है; इसलिए कितनी ही बातों में बाहर से कम से कम थोड़ा फ़र्क दिखलाना चाहते हैं। लेकिन साम्यवादियों का तो कम से कम हिन्दू-मुस्लिम होने का ख़्याल ही मिटा देना होगा। सभी साम्यवादी कार्यकर्त्ताओं को अपना उदाहरण लोगों के सामने रखना चाहिये। एक साथ खाना-पीना तो खुल्लम-खुल्ला होना चाहिये। एक दूसरे की भावनाओं पर, लड़कपन से आये हुए सामाजिक संस्कारों पर, खूब खुले तौर से बिना संकट के बहस करनी चाहिये। धार्मिक हो या सामाजिक, सांस्कृतिक हो या राजनीतिक, हर पहलुओं पर उन्हें निडर होकर बात करना चाहिये। इसका उन्हें ख़्याल ही छोड़ देना चाहिये कि उनके भाव पर शायद ठेस लगे। आजादी के प्रश्न छोड़ कर साम्यवादियों के सामने न कोई बड़ा प्रश्न है और न कोई बड़ा कोमल भाव।

हम जानते हैं कि साम्यवादी भी आख़िर हिन्दू मुसलमान माँ-बाप से ही पैदा हुए हैं और बच्चे पर लड़कपन में कम से कम

अपने माँ-बाप का असर होना ज़रूरी है। वे असर तभी दूर हो सकते हैं, जब कि सामाजिक बन्धनों को तोड़ने में हम साहस से काम लें और एक दूसरे के कोमल से कोमल भावों पर खुला प्रहार करने को तैयार हों। साम्यवादियों को इसे तो पहला सामाजिक नियम बना देना चाहिये कि इसमें आनेवाला आदमी हिन्दू हो या मुसलमान, छूत हो या अछूत, उसे एक साथ खाना-पीना चाहिये। उसको यह न ख़्याल करना चाहिये कि साधारण लोग क्या कहेंगे। किसी भी सामाजिक क्रान्ति में शामिल होनेवालों को कुछ कड़वा मीठा सहने के लिए तैयार होना ही चाहिये। लोग जेल जाने और फाँसी चढ़ जाने को बड़ी हिम्मत की बात कहते हैं। समाज की रूढ़ियों को तोड़ना और उसके द्वारा उनकी आँखों में काँटे की तरह चुभना जेल और फाँसी से भी ज़्यादा साहस का काम है। साम्यवादी एक नया संसार, एक नया समाज बनाना चाहते हैं, इसलिए उन्हें हर तरह की क़ुर्बानियों के लिए तैयार रहना चाहिये। अगर आप शादी-ब्याह अपनी जाति में रखना चाहते हैं, अगर आप मुण्डन और जनेऊ अपनी जाति के रिवाज़ के मुताबिक करना चाहते हैं, अगर आप खान-पान में स्वयंपाकी रहना चाहते हैं, तो आप जैसे साम्यवादी से साम्यवाद को नुक़सान ही पहुँचेगा। जहाँ साम्यवादियों की पार्टी का हेड क्वार्टर हो या कुछ साम्यवादी एक

जगह रहते हों, वहाँ हिन्दू-मुस्लिम बावर्चीखाना अलग नहीं रहना चाहिये। सब का खाना एक जगह बने और जो चाहे सो बनावे। और सब को एक साथ बैठकर खाना चाहिये। शायद हमारे साम्यवादी कार्यकर्त्ताओं को यह ख़्याल हो कि इससे कहीं जनता भड़क उठेगी, जिसमें वे काम करना चाहते हैं; लेकिन तब आपके इस कहने का मतलब होगा कि जिन रूढ़ियों को तोड़ फेंकना साम्यवाद के लिए सब से आवश्यक चीज़ है, उन्हीं को आप साम्यवाद की सफलता में सहायक मानते हैं। जनता अपने असली हित को समझने की शक्ति रखती है। यदि उसको ठीक से समझाया जाय। मैं यहाँ अपना ही एक उदाहरण देता हूँ। बहुत दिनों बाद मुझे एक परिचित गाँव में जाना पड़ा। लोगों का आग्रह हुआ कि मैं रूस के बारे में कुछ कहूँ। मैंने साधारण रूसी जनता की आर्थिक उन्नति की बात बतलाई—कैसे वहाँ के गाँव के छोटे-छोटे खेत मेड़ तोड़ कर मिलों लम्बे बना दिये गये हैं, कैसे छोटे-छोटे टुकड़ों की जगह एक हाथ गहरा खोदनेवाले सात-सात फारों के मोटरवाले हल एक के पीछे पचास, खेतों में चलते दिखलाई पड़ते हैं, कैसे गाँव के स्त्री-पुरुष, श्रमिक अपने सम्मिलित खेतों पर मोटर हलों पर बैठे झंडे और जयनाद के साथ खेतों पर पहुँचते हैं, कैसे हवाई जहाज़ उड़कर मीलों लम्बे खेतों में बीज बोते

हैं, कैसे मशीन ही खेतों को काटती हैं, कैसे फसल को दबाती हैं, किस तरह खेतों पर भी भोजन के वक्त सैकड़ों किसान काम छोड़ कर एक जगह जमा होते हैं, भोजन परोसा जाता है और साथ-साथ लोग रेडियो का गाना भी सुनते रहते हैं, कैसे गाँव एक दूसरे से जुताई, खेत बोने और अनाज का अधिक परिमाण में पैदा करने में होड़ लगाते हैं, कैसे किसी गाँव का काम पिछड़ जाने पर दूसरे गाँववाले गोल बाँध कर मदद देते और उन्हें लज्जित करते हैं, कैसे गाँव की छोटी-छोटी झोपड़ी हटा कर चौड़ी सड़कों के किनारे ईंट-चूने के मकान किसान बना रहे हैं, जिनमें पानी के नल, बिजली की रोशनी, नागरिकों की चीजें पहुँच रही हैं, कैसे हर एक गाँव में स्कूल, अस्पताल और सिनेमा जारी रहता है; कैसे हर एक गाँव के श्रमिक स्त्री-पुरुष अपने पुस्तकालय, क्लबों और नाट्यशाला में नियमपूर्वक पहुँचते हैं, कैसे लोगों को दिन में छ-सात घण्टा काम करना पड़ता है और इतने ही में संस्कृत सुखमय जीवन बिताने की हर एक सामग्री को वे आसानी से पा सकते हैं, कैसे वहाँ लड़के-लड़कियों को पढ़ाने तथा परवरिश करने का सब से अधिक भार साम्यवादी सरकार अपने हाथ में लेती है, मानो पिता को न शादी की फ़िक्र है, न लड़के के लिए कुछ विरासत दे जाने

की, कैसे यदि कोई बीमार या बूढ़ा हो तो उस व्यक्ति के भरण-पोषण का सम्मानपूर्वक इन्तजाम सरकार शुरू करती है, कैसे वहाँ के लोगों की चिन्ता अब हज़ार हिस्से में एक हिस्सा रह गया है। उस सभा में हिन्दू, मुसलमान, ब्राह्मण और चमार सभी थे। मैंने देखा कि सभी के चेहरे पर प्रसन्नता की रेखा दिखलाई पड़ती है! तब मैंने कहा, लेकिन रूस में बहुत-सी ख़राब बातें भी हुई हैं, वहाँ घुरहू तिवारी की लड़की को मँगरू चमार का लड़का सरेआम ब्याह कर लेता है और उसमें कोई बाधक नहीं हो सकता, वहाँ खाने-पीने में जात-पाँत का सवाल नहीं है, मँगरू चमार अगर रसोई अच्छी बनाना जानता है, तो वही बनायेगा और गाँव के ब्राह्मण राजपूत सब को एक साथ बैठ के खाना पड़ेगा, अगर बड़ी जाति वालों ने ज़रा-सी आनाकानी की, तो बहुत सम्भव है कि उन्हें देश से निकाल दिया जाय, धर्म और ईश्वर के लोग विरोधी बना दिये गये हैं, हज़ारों मन्दिरों और मस्जिदों की वर्षों से मरम्मत नहीं हुई, उनकी छत की लकड़ियों को वही लोग ले जाकर ताप लिया करते हैं और अब उनकी दीवारें और छतें जीर्ण-शीर्ण अवस्था में गिरने के लिए तैयार हैं, पुरोहितों और मुल्लाओं का पेशा उठा दिया गया है, अपने हाथ से काम करो, तो ठीक नहीं तो, महारानी फूलकुमारी की अब वे पचासों लौण्डियाँ नहीं रह गईं,

उन्हें अपने हाथ नहाना और धोना ही नहीं पड़ता, बल्कि पापी पेट के लिए खेत काटना, मिट्टी ढोना और सब तरह का काम करना पड़ता है, जिनके हाथ कभी मक्खन की तरह मुलायम थे, अब उनके हाथों में पत्थर के से कड़े पाँच-पाँच घट्ठे देख सकते हैं, साधु महात्मा का नाम वहाँ नहीं, सब से बड़ी बात तो यह है कि जात-पाँत का कोई ख़्याल नहीं रखा जाता! देखिये पापी पेट के लिए, इस चार दिन की ज़िन्दगी के लिए इस तरह का अधर्म क्या आप लोग पसन्द करेंगे? मैंने समझा था, मेरे भाषण के पिछले मजमून सुन कर लोग भड़क उठेंगे; लेकिन वहाँ उन लोगों को कहते सुना कि अरे, इसमें क्या रखा है आदमी की तरह सुखपूर्वक जीवेंगे और चिन्ता के बोझ से दिल तो हल्का होगा। कुछ तो कहने लगे—बाबा! यह हमारे यहाँ कब होगा? हमारी ज़िन्दगी में हो जायगा कि नहीं?

साम्यवादियों को जनता के सामने निधड़क होकर अपने विचार को रखना चाहिये और उसी के अनुसार करना भी चाहिये। हो सकता है, कुछ समय तक लोग आपके भाव न समझ सकें और ग़लतफ़हमी हो लेकिन अन्त में आपका असली उद्देश्य हिन्दू-मुसलमान सभी ग़रीबों को आपके साथ सम्बद्ध कर देगा। रूढ़ियों को लोग इसलिए मानते हैं, क्योंकि उनके सामने रूढ़ियों को

तोड़नेवाले का उदाहरण पर्याप्त मात्रा में नहीं है। लोगों में इस ख़्याल का ज़ोर से प्रचार करना चाहिये कि मज़हब और ख़ुदा ग़रीबों के सब से बड़े दुश्मन हैं। वे मरने के बाद स्वर्ग का लालच दे कर इस जीवन को नरक बनाते हैं। ऋतु सम्बन्धी तथा अन्य राष्ट्रीय महत्व के उत्सवों में साम्यवादियों को भी शामिल होना चाहिये, लोगों को भी उसकी ओर आकर्षित करना चाहिये लेकिन जिन त्योहारों का सम्बन्ध मज़हब से है, उनसे अपने को अलग रखना चाहिये। हमें जन्माष्टमी और मौलूद शरीफ़, नवरात्रि और ईद से कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहिये, ताजिया और रामलीला दोनों हमारे लिए एक समान त्याज्य हैं। हिन्दुओं की गोरक्षा सब से बड़ी बेवकूफ़ और हानिकारक चीज़ हैं। ख़ुद तो इनके पुरखे अभी सोलह सौ वर्ष पहले तक गाय का मांस घर-घर में खाते और खिलाते रहे हैं, वही धूर्त पुरोहित, जिनके पूर्वजों के यहाँ बिना एक छ महीने की बछिया मारे मेहमान की ख़ातिरदारी नहीं हो सकती थी, वही अब गाय के पीछे जहाद बोल रहे हैं। इस बारे में हमारी राय खुली और स्पष्ट होनी चाहिये। हमारे लिये गाय वैसी चीज़ है, जैसी कि और भी कोई जानवर। हिन्दू किसान मज़दूरों को समझाना चाहिये कि तुम्हारे पूर्वजों की करनी गोरक्षा के विषय में कैसी थी? क़ुर्बानी करना भी बेवकूफ़ी है और फिर उस ख़ुदा

के लिए, जो कि ग़रीबों का सबसे बड़ा दुश्मन है। हिन्दू जब ख़ुद अपने ख़्याली देवताओं के लिए बकरी सुअर चढ़ाये, तब तो कोई बात नहीं, लेकिन जब मुसलमान उसी बेवकूफ़ी को करें, तो उसके लिए लठ लेने को तैयार हो जायें, यह कितनी वाहियात बात है। गोकशी और रामलीला, ताजिया और बाजा—ये सारे झगड़े धनियों के बड़े काम के हैं। वह उन्हीं को लेकर ग़रीबों में झगड़े पैदा करते हैं। उनको एक दूसरे का जानी दुश्मन बनाते हैं और फिर अपना उल्लू सीधा करते हैं। मज़हब और ख़ुदा के ख़िलाफ़ हमें ज़बर्दस्त प्रचार करना चाहिये। किसानों और मज़दूरों को अपनी ज़िन्दगी की नित्य-नित्य की कड़वाहट का इतना अनुभव होता है कि समझाने पर वे मज़हब की धोखे-धड़ी को समझ सकते हैं। एक मर्तबे यदि यह भाव हमने लोगों में पैदा कर दिया, तो किसान और श्रमिक जनता की सारी सम्मिलित शक्ति क्रान्ति के लिए तैयार हो जायगी।

उर्दू-हिन्दी, धोती-पायजामा, लाल-सफ़ेद टोपी भी उसी मज़हब ने पैदा किया है। साम्यवादियों के लिए कोई बात इसलिए माननीय नहीं है कि वह हज़ारों वर्ष से चली आती है। हम जानते हैं कि जितनी शताब्दियाँ हम पीछे की ओर जायँगे, उतना ही लोगों में बेवकूफ़ी का परिमाण भी अधिक पायेंगे। हरएक चीज़ पर हमें

बुद्धिपूर्वक विचार करना है। न किसी पोथी की बात माननी है, न किसी बड़े आदमी की। तब हमें अपने ही अपना रास्ता साफ़ दिखलाई पड़ने लगेगा।

हमें उस समय के लिए उतावला होना चाहिये, जब कि हमारे देश से जातिभाव सपना हो जायगा, छुआछूत मिट जायगी और धर्म एवं वेद अतीत की बात हो जायगा। रोटी-बेटी, वेष-भूषा, भाषा-भाव सब एक हो जायेंगे।

४—शिक्षा में आमूल परिवर्त्तन

शिक्षा की कोई भी प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह किसी राष्ट्र के मानसिक व आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ति कर सके। भारतवर्ष में हमलोग अपनी शिक्षा-प्रणाली के दोषों से पूर्णतया परिचित हैं। यह शिक्षा-प्रणाली हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती, वरन् यह एक बड़ा भारी नुकसान कर रही है। हमारे शिक्षितों को यह व्यक्तिगत और सामाजिक उत्तरदायित्व के भार के वहन करने में सर्वथा असमर्थ कर देती है। मेरे कहने का तात्पर्य्य यह नहीं कि हमारे स्कूलों और विश्वविद्यालयों की शिक्षा एकदम व्यर्थ है। विज्ञान, इतिहास और साहित्य जो कि हमारे शिक्षालयों में पढ़ाये जाते हैं, वे सब किसी भी सभ्य राष्ट्र के लिए आवश्यक हैं। लेकिन हमारी शिक्षा में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि यह शिक्षितों को शारीरिक श्रम करने के बिल्कुल अयोग्य बना देती है। शिक्षित पुरुष शारीरिक श्रम को अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझता है। अपने समाज में हम आलसियों की पूजा

करते हैं अर्थात् हम ऐसे शिक्षित पुरुष चाहते हैं जो सब प्रकार के शारीरिक श्रम को घृणा की दृष्टि से देखता है और अपने छोटे-मोटे व्यक्तिगत कामों के लिए भी नौकरों पर निर्भर करता है। यह आदत हमारे शासकों ने इस देश में प्रतिष्ठित होने के लिए क़ायम की थी। हमारे काले और गोरे नवाबों के उदाहरण शिक्षित भारतीयों के लिए आदर्श बन गये और हमारी वर्तमान अवस्था का उत्तरदायित्व इसी पर है।

शारीरिक श्रम—इस संबंध में हमें पहला शिक्षा संबंधी सुधार यह करना है कि लोगों के मस्तिष्क पर शारीरिक श्रम के महत्व की छाप डाल दें। शारीरिक श्रम को अनिवार्य विषयों के समान हमें अपने पाठ्य-क्रम का एक अङ्ग बनाना पड़ेगा। किसी भी विद्यार्थी को प्रारम्भिक वर्ग से लेकर विश्वविद्यालय तक तरक्की नहीं मिलनी चाहिये जबतक वह शारीरिक श्रम के विषय में उत्तीर्ण न हो ले।

प्रत्येक आदमी शिक्षा के महत्व को समझता है, अतएव अगर लोग इसके लाभ से शारीरिक श्रम न करने के कारण वंचित कर दिये जायँ, तो वे शारीरिक श्रम करने के लिए बाध्य होंगे। इस शारीरिक श्रम से किसी को छुटकारा नहीं मिलना चाहिये, यदि उसके अवयवों में कोई दोष न हो। शारीरिक श्रम ज़मीन खोदने

और बोझा ढोने के रूप में रहना चाहिये। विद्यार्थियों की उम्र के मुताबिक हरेक वर्ग को हरेक सप्ताह में किन्हीं नियत घण्टों तक शारीरिक श्रम करना चाहिये। शिक्षा-विभाग के अधिकारियों को इसका सन्तोष होना चाहिये कि जो विद्यार्थी उत्तीर्ण होते हैं वे सचाई से अपना नियत शारीरिक श्रम करते हैं और कर सकते हैं। शिक्षक और छात्र परीक्षकों को धोखा नहीं दे सकते क्योंकि प्रतिदिन अभ्यास डाले बिना आधे घण्टे तक भी ज़मीन खोदना कठिन है। हम लोगों के बहुत से बैठेठाले शिक्षित पुरुष कृषि का कार्य अथवा ऐसा ही अन्यान्य कार्य जिसमें शारीरिक श्रम की आवश्यकता है नहीं कर सकते, क्योंकि अपने सम्पूर्ण छात्र-जीवन में वे कठिन शारीरिक श्रम से बिल्कुल दूर रहते हैं। साप्ताहिक शारीरिक श्रम के अलावे माध्यमिक स्कूलों और कालिजों में हर साल एक महीने का परिश्रमपूर्ण कैम्प-जीवन हो। इस प्रकार के कैम्प-जीवन से छात्रों को बहुत-सी शिक्षायें मिल सकती हैं। हिटलर के अभ्युदय के साथ ही जर्मनों ने छात्रों के लिए ऐसी प्रणालियाँ बनाई हैं और इस प्रकार के कैम्प उन्होंने मज़दूरों के लिए भी बना रखे हैं। इस प्रकार के खीमों में छात्र और मज़दूर एक ही प्रकार के जीवन बिता सकेंगे और एक दूसरे के भावों को समझेंगे। निस्सन्देह यह सब खर्च सरकार ही वहन करती है और वह इस श्रम को सड़क बनाने अथवा दूसरे

प्रकार के सर्वसाधारण के उपयोगी कामों में लगाती है। इस देश में भी वही बात की जा सकती है। हमलोगों के पास सड़कें अच्छी नहीं और हमें नहरों और बाँधों की आवश्यकता है। अगर हम-लोग जर्मन-प्रणाली का अनुसरण करें तो हमलोग बहुत आसानी से कैम्प-जीवन के खर्च का प्रबन्ध कर सकेंगे और इस शारीरिक श्रम का बहुत-से कामों में उपयोग कर सकेंगे।

कृषि-शिक्षा—हमलोग इस बात को जानते हैं कि खेती की अवस्था इस देश में बिल्कुल प्रारम्भिक है। हमलोगों के पास कुछ कृषि-कालिज हैं जिनमें कृषि-विद्या का अध्ययन होता है। लेकिन अभी तक हमने अपनी कृषि में कोई वैज्ञानिक सुधार नहीं किया है। हम इसके लिए कृषकों की रूढ़ियों को दोष देते हैं। बेशक कृषक रूढ़ि-प्रेमी हैं किन्तु ऐसे रूढ़ि-प्रेमी कृषक हर देशों में पाये जाते हैं। किन्तु साधारण समझ का किसान भी अपने आर्थिक लाभ को अवश्य समझ सकता है। हमें उत्तर बिहार की ऊँख की खेती का अनुभव है और यह अनुभव चीनी के कारख़ानों के स्थापित होने के समय से विशेष रूप में मिला है। ४-५ वर्षों के बीच किसानों ने पुरानी फ़सलों को छोड़कर ऊँख बोना शुरू कर दिया है। हमारा पूसा कालिज नई जाँचों में सहायक हो सकता है। लेकिन कृषि-कालिजों में कृषि-कर्म करने में जो खर्च पड़ता है

वह इतना अधिक है कि उसे हम व्यवहार में नहीं ला सकते हैं। सच बात तो यह है कि युरोप और अमेरिका में जो प्रणालियाँ प्रचलित हैं उनको हम अपने देश में व्यवहार में नहीं ला सकते क्योंकि हमारे किसानों के पास न तो उतनी ज़मीन है और न उतना मूलधन है। अतएव हमें आधुनिक कृषि-शिक्षा कृषि-स्कूल से प्राप्त करना बहुत उचित होगा। कृषि-कालिज में प्रवेश पाने के लिये हमारे यहाँ विद्यार्थियों को कम से कम इंट्रेंस पास होना चाहिये। इसका नतीजा यह होता है कि जो कोई कृषि-कालिज से भी शिक्षा प्राप्त करता है, नौकरी ही के पीछे परेशान रहता है। ऐसा कोई प्रबन्ध नहीं है कि थोड़े दिनों में किसानों को कुछ उपयोगी बातें बता दी जायें और इन सीखने वालों को जहाँ तक हो सके कम ही शिक्षा प्राप्त कर प्रवेश पाने की क़ैद रखी जाये। और प्राइमरी शिक्षा का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाये कि छः वर्ष का पाठ्यक्रम समाप्त करके छात्र कृषि-स्कूल में भर्ती हो सके।

इस प्रणाली में नवीनता लाते हुए हमको ख़र्च पर भी ध्यान देना चाहिये। अगर इसका ख़र्च बहुत ज़्यादा होगा तो इससे कृषक आकर्षित कदापि न होंगे। मैं कृषि-सम्बन्धी सिद्धान्तों की शिक्षा की निन्दा नहीं करता। लेकिन व्यावहारिक शिक्षा की आवश्यकता

बहुत बड़ी है। इस अभिप्राय से हमलोगों को हरेक जिले में एक कृषि-स्कूल चाहिये। जिसमें चार वर्ष का पाठ्यक्रम रहे और नियमित छात्रों के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष विषयों का पाठ्य-क्रम सर्व-साधारण कृषकों के लिए भी रहे। नवीन प्रणालियों का अन्वेषण इस शिक्षा का प्रधान भाग होना चाहिये। यह शिक्षा तब तक उपयोगी न होगी जब तक सस्ता कृषि की कलें, खाद और चुने हुए बीज हमें आसानी से न मिल सकें। सस्ती कलें तैयार करने के लिए कुछ देशी कारख़ाने संस्थापित होने चाहिये।

उद्योग धन्धों की शिक्षा—पहले तो समूचा देश ही कल कारख़ानों में बहुत पिछड़ा हुआ है। किन्तु बिहार तो और भी पिछड़ा हुआ है। इस प्रान्त की पहली सरकार तो इस बात पर ज़रा भी ध्यान नहीं देती थी और साधारणतः जनता भी इससे उदासीन ही है। धनबाद में माइनिंग स्कूल है। लेकिन यदि विद्यार्थियों की सूची देखी जाय तो यह पता चल जायेगा कि क़रीब-क़रीब सभी अबिहारी ही हैं। भारत ऐसे धनी आबादी के देश की मुक्ति उसके कल कारख़ानों की उन्नति पर निर्भर करती है। हरेक कमिश्नरी में एक औद्योगिक स्कूल चार वर्ष के पाठ्य-क्रम का अवश्य रहना चाहिये। ऐसे स्कूलों में भर्ती होने के लिए विद्यार्थियों को मिड्ल पास होना चाहिये। इनमें विषयों की शिक्षा स्थानिक

आवश्यकता के अनुकूल होना चाहिये। उनमें चीनी मिट्टी के पात्र, चमड़े का काम, शीशे का काम, धातु के पात्र, मिट्टी के पात्र, काग़ज़ बनाना, सिलाई का काम, बढ़ई का काम, रेशम का काम, व्यावहारिक इन्जिनीयरिंग और औद्योगिक रसायन शास्त्र तथा ऐसे ही दूसरे-दूसरे उपयोगी विषयों की शिक्षा होनी चाहिये।

प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षा—बिना विलम्ब के निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा लड़के और लड़कियों के लिए शुरू कर देनी चाहिये। आवश्यक रुपये के लिए हमलोगों को चन्दा माँगना, या उधार लेना चाहिये क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा नागरिकता का आवश्यक गुण है। इसके बिना सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक उन्नति के सब प्रयत्न बेकार होंगे। लड़के और लड़कियों के लिए पृथक स्कूल का निर्माण ख़र्च को दूना कर देगा। छः से बारह वर्ष तक सहशिक्षा में किसी को उज्र नहीं होगा। भाषा, व्याकरण और हिसाब तथा दूसरे विषयों की शिक्षा के साथ हमलोगों की शारीरिक श्रम की शिक्षा भी अवश्य प्रारम्भ कर देनी चाहिये। इनमें धार्मिक शिक्षा की कोई ज़रूरत नहीं, किन्तु नैतिक और राष्ट्रीय शिक्षाएँ उन्हें ऐसी मिलनी चाहिये जो उन्हें राष्ट्रीयता सिखा सके। यू० पी० और पञ्जाब में हाई-स्कूलों का पाठ्य-क्रम प्राइमरी शिक्षा को मिलाकर १० वर्ष का

है। बिहार में ११ वर्ष की शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं। वर्नाकुलर और अँग्रेज़ी स्कूल के भेद रखने की कोई आवश्यकता नहीं। अँग्रेज़ी अनिवार्य दूसरी भाषा रहे परन्तु दूसरे विषयों की शिक्षा मातृ-भाषा के माध्यम से हो। प्राचीन भाषाओं की पढ़ाई पर विशेष ज़ोर न दिया जाये। किन्तु विद्यार्थियों को गणित और विज्ञान अतिरिक्त विषय में लेने के लिए उत्साहित किया जावे।

विश्वविद्यालय की शिक्षा—हमारी यह शिक्षा अधिक से अधिक उपयोगी विज्ञान के ज्ञान में वृद्धि करे, हमें सिद्धान्तिक अध्ययन विज्ञान का करना चाहिये। लेकिन व्यावहारिक विज्ञान का ज्ञान हम विशेष रूप से प्राप्त करें। विज्ञान की शिक्षा के लिए किसी राष्ट्र को हर विद्यार्थी पर कुछ रुपया ख़र्च करना पड़ता है। अतएव विज्ञान के स्नातकों को वकालत में प्रवेश करके इस रुपये का अपव्यय न करना चाहिये। प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति स्पर्धामय-परीक्षाओं (Competitive Examinations) से होनी चाहिये। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं में जाति या वर्ग का भाव लाना बहुत ही हानिकारक होगा। ऑनर्स और पोस्ट-ग्रेजुएट क्लासों की शिक्षा उन्हीं प्रोफ़ेसरों से दिलानी चाहिये जो अपने विषयों में कुछ मौलिक अन्वेषण कर रहे हों। यदि कोई अध्यापक कोई मौलिक लेख किसी प्रामाणिक पत्र में नहीं प्रकाशित कराता हो

तो उसे उन क्लासों के पढ़ाने का अधिकार न होना चाहिये। प्राचीन भाषाओं की शिक्षा के लिए अंग्रेज़ी जानने की आवश्यकता पर ज़ोर न देनी चाहिये। पुराने ढंग का पण्डित या मौलवी अपने विषय को किसी एम० ए० से अधिक योग्यतापूर्वक पढ़ा सकता है और अंग्रेज़ी के माध्यम के द्वारा संस्कृत पढ़ाने का कोई अर्थ नहीं। मैं इस बात को समझता हूं कि पुराने ढंग के पण्डित या मौलवी ऐतिहासिक और वैज्ञानिक पहलू में अपने विषयों से परिचित नहीं होते है। किन्तु ऑनर्स और पोस्ट-ग्रेजुएट के प्रोफ़ेसरों को रिसर्चस्कालर होना चाहिये। सभी भारतीय विश्वविद्यालयों के चांसलर वाइसराय या गवर्नर होते हैं। प्राचीन काल में ऐसे प्रबन्ध में कोई उद्देश्य रहा होगा किन्तु अब, जबकि शिक्षा निर्वाचित मन्त्रियों के हाथ में रख दी गई है, तो पुरानी परिपाटी का परिपालन करना आवश्यक नहीं है। हमलोगों को एक वैतनिक चांसलर रखना चाहिये जिसमें इतने गुण हों और इतना समय हो कि वह विश्वविद्यालय की शिक्षा को अच्छी तरह से सँभाल सकें। बिहार के विश्वविद्यालय का प्रबन्ध सभी विश्वविद्यालय के प्रबन्ध से ख़राब है। कोई भी पुरुष जो अफ़सरों की नज़र में वाइस-चांसलर होने के योग्य हो वह इसका वाइस-चांसलर बना दिया जाता है। दरअसल वाइस-चांसलर का पद भी, एक प्रकार

का राज-भक्ति सूचक प्रतिष्ठा है, जिसे सरकार अपने भक्तों के ऊपर सम्राट की दी हुई पदवियों के समान, दे दिया करती है। यह इतना आसान काम समझा जाता है कि कुछ मिन्टों में ही वाइस-चांसलर अपना राग अलाप जाते हैं क्योंकि अर्वतनिक वाइस-चांसलर को अपने पेशे से तो फुर्सत मिलती ही नहीं। हमलोग आसानी से अपने पड़ोसी प्रान्त यू० पी० के विश्वविद्यालयों से इस सम्बन्ध में बहुत कुछ सीख सकते हैं।

पिछड़ी जातियों की शिक्षा—निःशुल्क और अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा होने पर भी ऊँची शिक्षा तो खर्चीली रहेगी ही। पिछड़े हुए वर्ग इसका खर्च नहीं जुटा सकते, क्योंकि इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। शिक्षा में उनकी कोई उन्नति नहीं हो सकती जब तक कि सरकार उनके होनहार विद्यार्थियों को सहायता न दे। मैं जानता हूँ कि सरकार के पास इतने रुपये न रह जावेंगे कि पिछड़ी जातियों के बच्चों के लिए वह उच्च शिक्षा का प्रबन्ध कर सके। पर हमें उनके लिए अवश्य कुछ करना है, वे सदैव सामाजिक अन्याय से ही न दबे रह जायें, हमें यह अवश्य देखना है। पिछड़ी हुई जातियों के वे सब छात्र जो प्रारम्भिक या माध्यमिक परीक्षाओं में प्रथम श्रेणी में पास हों, उच्च शिक्षा के लिए सरकारी वृत्तियों के अधिकारी समझे जायँ।

स्वीकृत पुस्तकें—जो पुस्तकें किसी भी कक्षा के लिए स्वीकृत की जाती है उनका प्रकाशन व्यक्तिगत प्रकाशकों के द्वारा बहुत ही निन्दनीय है। यह एक प्रगट रहस्य है कि किस प्रकार घूसखोरी इस पुस्तक-चुनाव के सम्बन्ध में की जाती है। हरेक व्यक्तिगत प्रकाशक के ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है, अतएव यदि किसी शिक्षा सम्बन्धी संस्था में किसी प्रकार की अपवित्रता पाई जाये तो उसके लिए कठिन दण्ड देने में आनाकानी न करना चाहिये। शिक्षा-विभाग लेखकों का एक समूह रख सकता है और योग्य लेखकों को उचित पारिश्रमिक भी दे सकता है। जितनी किताबें प्राइमरी और उच्च स्कूलों के लिए स्वीकृत हों उन्हें शिक्षा-विभाग ही प्रकाशित करे। विश्वविद्यालय अपने पाठ्यक्रम के सभी विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करे। हाँ केवल उन विषयों की पुस्तकें जो किन्हीं खास विषयों पर लिखी गई हैं और जिनके लेखक विश्वविद्यालय की अधीनता में नहीं हैं, बाहर से मँगाई जा सकती हैं।

नीचे मैं उन सुधारों का सारांश लिख देता हूँ जिन्हें भिन्न-भिन्न शिक्षा-प्रणालियों में प्रचलित करने की नितान्त आवश्यकता है।

प्रारम्भिक शिक्षा—(१) छः वर्ष का पाठ्यक्रम (७ से १२ वर्ष की अवस्था तक), (२) निःशुल्क और अनिवार्य, (३) लड़कियों और लड़कों की सहशिक्षा, (४) अनिवार्य शारीरिक श्रम

(खोदना और ढोना) (क) प्रथम से चतुर्थ वर्ग तक प्रति सप्ताह ३ घण्टे (ख) पाँचवे और छठे वर्ग के लिये ४ घण्टे प्रति सप्ताह, (५) पाँचवे और छठे वर्ग के लिए कुछ खेती और घरेलू-विज्ञान के पाठ, (६) फ़ौजी क़वायद प्रति सप्ताह २ घण्टे, (७) राष्ट्रीय और नैतिक शिक्षा (धार्मिक शिक्षा के बदले में)।

माध्यमिक शिक्षा (अ) हाई स्कूल—(१) चार वर्ष का पाठ्य-क्रम (१३ से १६ वर्ष), (२) अनिवार्य शारीरिक श्रम (खोदना और ढोना) छः घण्टे प्रति सप्ताह, मातृभाषा माध्यम के रूप में और अँग्रेज़ी दूसरी अनिवार्य भाषा के रूप में, (४) प्राचीन भाषा में वैकल्पिक विषयों में एक, (५) अतिरिक्त गणित और विज्ञान की शिक्षा का विशेष प्रबन्ध, (६) फ़ौजी क़वायद प्रति सप्ताह २ घण्टे, (७) कैम्प-जीवन का श्रम, (निःशुल्क हर साल १ मास), (८) प्रथम श्रेणी में पास करनेवाले पिछड़े वर्ग के छात्रों को छात्र-वृत्ति।

(आ) कृषि स्कूल—(१) हर ज़िले में एक, (२) प्राइमरी वर्ग परीक्षोत्तीर्ण छात्रों का प्रवेश, (३) नियमित विद्यार्थियों का ४ वर्ष का पाठ—विशेष शिक्षा के लिए छः महीने, (४) खेतों की व्यावहारिक शिक्षा, (५) बाग़वानी, रेशम के काम, मक्खन निकालने का काम, मुर्ग़ी पालने का काम, (६) कैम्प-जीवन श्रम...(निःशुल्क) प्रति वर्ष १ मास, (७) माध्यम मातृभाषा; अँग्रेज़ी अनिवार्य दूसरी

भाषा, (८) फ़ौजी क़वायद प्रति सप्ताह २ घण्टे, (९) (अ) के मुताबिक छात्र-वृत्तियाँ।

(इ) व्यावहारिक—(१) प्रत्येक कमिश्नरी में एक स्कूल, (२) चार वर्ष का कोर्स, (३) रेशम, सिलाई, बढ़ईगिरी, चीनी-मिट्टी के पात्र, चर्मकार्य, काँच और द्रव्य काम, काग़ज़ बनाना कल काँटे का काम और व्यावहारिक रसायनशास्त्रादि विषय।

(ई) गाँवों का ढाँचा बनाना इत्यादि—(१) प्रवेश ८ वें वर्ग पास, (२) अनिवार्य शारीरिक श्रम (खोदना और ढोना) प्रति सप्ताह छः घण्टे, (३) कैम्पजीवन श्रम (निःशुल्क) प्रति वर्ष १ मास, (४) फ़ौजी क़वायद हफ़्ते में दो घण्टे, (५) मातृभाषा माध्यम और अँग्रेज़ी दूसरी अनिवार्य भाषा, ६) (अ) के समान छात्र-वृत्तियाँ।

विश्वविद्यालय की शिक्षा—(१) भविष्य उपयोगिता के अनुसार विषयों का सामूहिक विभाग, (२) अनिवार्य शारीरिक श्रम (खोदना और ढोना) हफ़्ते में ६ घण्टे, (३) कैम्पजीवन श्रम (निःशुल्क) प्रति वर्ष एक मास, (४) राईफल चलाना और दूसरी फ़ौजी क़वायद २ घण्टे प्रति सप्ताह, (५) औद्योगिक और सामाजिक विज्ञानों के पढ़ने के लिए विशेष प्रबन्ध, (६) राजनैतिक विचार और उनके अभिव्यञ्जन की स्वतन्त्रता, (८) माध्यम मातृ-

भाषा; अँग्रेज़ी दूसरी अनिवार्य भाषा, (८) विज्ञान के स्नातक क़ानून न पढ़ें और दूसरे ऐसे पेशे भी न करें जिनमें उनका ज्ञान व्यर्थ जाये। (९) वैतनिक चांसलर आवश्यक गुणों के साथ, (१०) प्राचीन भाषाओं के प्रथम चार वर्गों में अध्ययन के लिए शिक्षकों को अङ्गरेज़ी ज्ञान की ज़रूरत नहीं। (११) जो प्रोफ़ेसर ऑनर्स और पोस्ट-ग्रेजुएट क्लासों में पढ़ाते हैं उनको अन्वेषण सम्बन्धी लेख लिखना ज़रूरी है, (१२) प्रोफ़ेसरों की नियुक्ति स्पर्धापरीक्षाओं के द्वारा हो, (१३) उन पिछड़ी हुई जातियों को वृत्तियाँ दी जावें जो मैट्रिकुलेशन परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हों।

५—नव-निर्माण

साम्यवादी समाज का आर्थिक निर्माण नई तरह से करना चाहते हैं। और वह निर्माण रफ़ू या लीपा-पोती करके नहीं करना होगा। एक तरह उसे नई नींव पर, नई दीवार खड़ी करके करना होगा। भारत की साधारण जनता की ग़रीबी इतनी बढ़ी हुई है कि उसके लिए अनन्त की ओर इशारा किया नहीं जा सकता। हमें अपने काम में तुरन्त जुट जाना चाहिए। पिछले चुनाव में जनता के सामने जो कार्यक्रम रखा गया है, यद्यपि उसमें नव-निर्माण उतना आगे तक नहीं है, जितना कि साम्यवादी चाहते हैं, लेकिन देखने में आ रहा है कि हमारे नेता लोग उस हल्की माग को भी बहाना करके टाल देना चाहते हैं। जिसके वोट पर कांग्रेस के लोग चुनाव-युद्ध में विजयी हुए और गवर्नमेन्ट की बागडोर उनके हाथ में आई, अब वे कह रहे हैं कि वे उन किसानों के ही प्रतिनिधि थोड़े हैं, उन्हें ज़मींदारों का भी ख़्याल होगा। शायद उनको यह पता नहीं है कि जिन किसानों ने उन्हें ये विजय और अधिकार दिया, चार वर्ष

बाद फिर उन्हें उन्हीं के सामने जाना है। उनको शायद यह ख़्याल होगा कि कांग्रेस का संगठन उनके हाथ में है। किसानों को तो क्रान्ति की कुछ गरम-गरम बातें, कुछ अपनी वर्तमान कठिनाइयों और कुछ भविष्य के प्रलोभन देकर भुलवाया जा सकता है और किसान कार्यकर्त्ताओं को हम कांग्रेस के भीतर कुछ गड़बड़ करने का मौका ही नहीं देंगे। कुछ चीं-चपड़ करेंगे तो उन्हें 'डिसिप्लिन' का डर दिखायेंगे। एसेम्बली, और कौन्सिल के किसान-पक्षी मेम्बरों को साम, दाम देकर एक साथ मिलने नहीं देंगे, प्रस्तावों की अधिकता और भाषणों की भरमार का डर दिखला कर हरेक काम को कार्य-कारिणी और फिर मन्त्रियों के हाथ में सौंपकर सब काम अपने हाथ में ले लेंगे। इस तरह चार वर्ष बाद फिर हम उसी शान से किसानों के सामने जायेंगे जैसे कि पिछले चुनाव में गये थे। लेकिन उनको ख़्याल रखना चाहिए कि किसानों की कठिनाइयाँ काल्पनिक नहीं हैं। जीवन के अत्यन्त उपयोगी सामग्रियों से हिन्दुस्तान के किसान कितने वञ्चित हैं इसकी दुनिया में मिशाल नहीं। लड़कों की शिक्षा, शादी-ब्याह, क़र्ज़, भेंट, बेगार, पचासों ऐसी चिन्ताएँ हैं जो किसानों के दिल में भूसे के भीतर आग की तरह सुलगती रहती है। चिकनी-चुपड़ी बातों से आप किसानों को भुलावा नहीं दे सकते, और किसान कार्यकर्त्ता भी

न ऐसे भोले-भाले है, न ऐसे स्वार्थ और मान के पीछे मरनेवाले हैं कि आपके चकमों में आ जायँगे। आपको किसानों के प्रोग्राम में शायद दिल से भी हिचकिचाहट है। हम यह तो नहीं कहते कि मन्त्री लोग, जिनमें अधिकांश ज़मीन्दार हैं, अपने स्वार्थ के लिए टालमटोल करना चाहते हैं। लेकिन शायद आपलोगों को ज़मीन्दारों के सङ्गठन का भय हो। शायद आप अपर कौन्सिल के वोट को डरते हों जहाँ पर कि ज़मीन्दारों के बहुमत का डर है, और इसीलिए आप समझौता करना चाहते हैं। कुछ ऐसी बातें हैं जिन पर समझौता करके किसानों को आप अपना कट्टर दुश्मन बना लेंगे। भावली, दानाबन्दी, सार्टिफ़िकेट और सलामी में तो समझौता हो ही नहीं सकता। उन्हें तो क़लम की एक नोक से काट देना होगा। अगर कौन्सिल से पास नहीं होता है तो और जो दूसरे रास्ते हैं उन्हें आप अख़्तियार करें। खेती की आमदनी के लिए ज़मीन्दारों पर जो टैक्स बैठाना चाहते हैं उसमें भी आपको नरमी से काम नहीं लेना होगा। ५ हज़ार आमदनी वाले ज़मीन्दारों को आप इस टैक्स से बरी कर सकते हैं। क्योंकि जिसे ५ हज़ार की आमदनी है और घर में आठ-दस व्यक्ति हैं उसके लिए व्यक्ति पीछे हज़ार आठ सौ रुपए साल की आमदनी पड़ जाती है। हाँ उसे भी इसके लिए तो ज़रूर तैयार करना होगा कि

लगान की शरह जहाँ अधिक हो वहाँ कम की जाय। हरेक खेत का दर्जा सर्वे में बँधा हुआ है। उस दर्जे के मुताबिक आप महत्तम और लघुतम शरह बाँध दें और उसके अनुसार सभी छोटे-बड़े ज़मीन्दारों को चलने के लिए मज़बूर करें। लेकिन ५ हज़ार से जिनकी आमदनी ज़्यादा है उन पर इन्कम टैक्स लगाना चाहिए। और एक लाख से ५ लाख वालों तक को ३० सैकड़ा से कम नहीं होना चाहिये। पाँचसे दस लाख तक ४० सैकड़ा, १० से २० लाख तक पचास सैकड़ा और २० लाख से ऊपर वालों से कम हर्गिज़ टैक्स नहीं लेना चाहिए। हमारे मन्त्री लोग इस इन्कम टैक्स से ३०-४० लाख की आशा रख रहे हैं। डेढ़ करोड़ की आमदनी तो सिर्फ़ बिहार के चार-पाँच ज़मीन्दारों की ही हो जाती है। ८० लाख तो आप उन्हीं से ले सकते हैं। आपका दिल अगर कमज़ोर है, हाथ काँपता है, तो उसे स्पष्ट क्यों नहीं कहते? अपर चैम्बर से डरने का बहाना क्यों करते हैं? जब कि आपने गवर्नरों से इन्हीं सब बातों के लिए आरम्भ में ही झगड़ा कर लिया था। आप को न ज़मीन्दारों की पर्वाह करनी होगी और न गवर्नर के नाराज़ होने की। आप अपने प्रस्ताव और बिल को निधड़क होकर रखें। अगर कौन्सिल उसे इन्कार करती है तो गवर्नर को कौन्सिल और असेम्बली दोनों की सम्मिलित बैठक करने को मज़बूर करें।

यदि यह नहीं होता है, तो नया चुनाव करवाएँ और उस चुनाव में इन्कम टैक्स ही नहीं, ज़मीन्दारी प्रथा को उठाना अपना प्रोग्राम रखें। फिर कौन्सिल में आयें और फिर उसी उत्साह के साथ अपने प्रोग्राम को रखें। ज़मीन्दारों और किसानों का स्वार्थ इतना एक दूसरे के विरुद्ध है कि उसे आप एकान्त कोठरी में ज़मीन्दारों से घुल मिलकर बात करके या अमुक 'सर' और अमुक 'नारायण सिंह' की चाय-पार्टी में तय नहीं कर सकते। वह समय दूर नहीं है जब कि किसान, जो आपके वास्तविक मालिक हैं, आपको हुक्म देंगे कि आप किसी बड़े ज़मीन्दार और राजा महाराजा से मिलने-जुलने और चाय-पान करने से वैसे ही अलग रहें, जैसे पहले कांग्रेस के हुकुम से सरकारी हाकिमों और उनकी चाय-पार्टियों से अलग रखे गये। ये कितनी शर्म की बात है कि वोट तो लें आप किसानों से अधिकार तो मिलें आपको किसानों के बल पर और फिर कहें, कि हम अब तो गवर्नमेन्ट है, किसी एक पार्टी के थोड़े हैं। इसी बात को, अगर हिम्मत है, तो लोगों के सामने आप खुली तौर से कहें और तब किसान बतला देंगे कि अगर आप मध्यस्थ हैं, तो किसानों के वैसे ही दुश्मन हैं जैसे पुरानी सरकार।

कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और कौन्सिलों में शायद

बालिग को वोट का अधिकार देना नहीं चाहता। म्यूनिसिपैल्टियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में वह सरकार की तरफ़ से जानेवाले आदमियों को भी जारी रखना चाहता है। पहली बात में तो बहाना किया जाता है कि वोटरों की संख्या बहुत अधिक हो जायगी, ख़र्च बहुत बढ़ जायगा और प्रबन्ध करना बहुत मुश्किल हो जायगा। कांग्रेस के मंत्रियों को यह कहते हुए शर्म आनी चाहिये। आज कितने वर्षों से यही लोग इसके लिए अंग्रेज़ी सरकार से लड़ रहे थे। अभी-अभी उन्होंने भारत के स्वदेशी विधान के लिए बालिग वोटरों द्वारा चुनी प्रतिनिधि सभा (कान्सट्यूएन्ट असेम्बली) बुलाने का प्रस्ताव पास किया। दूसरों के माथे डालना हो तो बालिग वोटरों का सिद्धान्त ठीक और जब अपने लिए आये तो उसे बेठीक कह दिया जाता है। यह अजब सिद्धान्त है। मनोनीत सभासद जब पहले सरकार भेजती थी, तो उसको हज़ार गालियाँ दी जाती थीं। अब इस डर से कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसपैल्टियों में नरमदली कांग्रेसियों के विरोधी साम्यवादी और किसानों का बहुमत न हो जाय, इसलिए मनोनीत सभासदों को अपने हाथ रखना चाहते हैं। ये खुली बेईमानी और सिद्धान्त का ख़ून नहीं तो और क्या है? पुराने मन्त्रियों की तरह शायद हमारे नये मन्त्री भी जात के ख़्याल में बहुत आगे नहीं बढ़े हैं। शायद वह अपने-अपने पिट्ठुओं और अपने रिश्तेदार और

नातेदारों को दरवाज़े से नहीं, तो खिड़की के रास्ते पहुँचा देना चाहते हैं। मालूम होता है, हमारे नेता लोग समझ रहे हैं कि वे जो चाहेंगे वह शान्तिपूर्वक कर देंगे। उनको ये मालूम नहीं है कि वे बारूद के ढेर पर हैं। एक चिंगारी उन्हें ऐसी उड़ा देगी कि कहीं एक टुकड़े का भी पता नहीं रहेगा। चुनाव सिर पर आ गया है, जल्दी में पुराने नियमों को नहीं बदला जा सकता है। इस बहाने को सुनकर तो बुखार चढ़ आता है। कौन कहता है कि आप इसी वक्त चुनाव करें? वोटर-लिस्ट तैयार हो गई है, जाने दीजिए उसे चूल्हे भाड़ में। छः महीने बाद चुनाव कीजिए, एक बरस बाद चुनाव कीजिए। अभी जो वर्तमान म्युनिसिपल-बोर्ड और डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड हैं उन्हें रहने दीजिए। लेकिन जब चुनाव कीजिए, तो बालिग वोटरों द्वारा और मनोनीत सभासद होने की बात को हटा कर।

अभी वोटरों की ऐसी अवस्था है कि दलित जातियों और मुसलमानों के प्रतिनिधियों के चुने जाने में बहुत कठिनाई है। इसलिए सम्मिलित चुनाव के साथ इन दोनों वर्गों की संख्या को नियत कर देना चाहिए, जिसमें किसी को लेकर प्रगति विरोधियों को वैमनस्य फैलाने का मौक़ा न मिले।

हमें अपने देश में नये आर्थिक निर्माण की आवश्यकता है। और उसके लिए जैसे गम्भीर विचार और विस्तृत अध्ययन की

ज़रूरत है, उसे आज तक हमारे कांग्रेस के नेता लोग अनावश्यक समझते आए है। ऐसी हालत में यह असम्भव है कि वे साहस करके लम्बा क़दम आगे बढ़ाएँगे। वर्तमान बजट में से २७ लाख रुपया किसी काम के लिए निकाला जा सकता है। लेकिन न कोई योजना है, न कोई नया विचार है, इसलिए उस २७ लाख से प्रान्त का कर्ज़ा बेबाक किया गया है। मानो बिहार को अब कर्ज़ा लेना ही नहीं है। नव-निर्माण के लिए हमें एक-एक दो-दो नहीं दस-दस बीस-बीस करोड़ कर्ज़े की ज़रूरत होगी। मन्त्री हो गये, पहले के मन्त्रियों से तनख़्वाह कम ले ली, इसलिए कांग्रेस के त्याग का ढिंढोरा दुनिया में पिट ही गया और चुपचाप फाइल पर दस्तख़त करते जाओ। अर्थ-विभाग और स्थानीय स्वायत्त शासन, शिक्षा और नव-निर्माण, स्वास्थ्य और आबकारी, ऐसे बड़े-बड़े विभाग हैं। जो जोड़ा-जोड़ा करके एक-एक के मन्त्री के माथे मढ़ दिये गये हैं। भला इन मन्त्रियों के पास फाइल पर दस्तख़त करने के बाद समय ही कहाँ रह जायगा? कब वह अपने विषय पर नये साहित्य पढ़ेंगे और कब उस पर नये तौर पर विचार करेंगे? बस उनके लिए तो एक ही रास्ता है कि उनके नीचे के जो ऊँचे अधिकारी हैं, वह उनके लिए पढ़ने-सोचने का काम करें और जैसा वो कहें, वैसा ही मान लें। अभी से देखने में आ रहा है कि जनता की किसी

कठिनाई को जब मन्त्री के सामने पेश किया जाता है तो अपने नीचे के उच्च अधिकारियों को अपना वकील बना कर वह सामने बैठा देता है। इन उच्च अधिकारियों ने कुछ पढ़ा-लिखा ज़रूर है, लेकिन उनका ज्ञान सिर्फ़ काग़ज़ का ज्ञान है। नव-निर्माण धरती की बात है, किताब की बात नहीं। किताब से सिद्धान्त मालूम हो सकते हैं, और ये सिद्धान्त भी धरती से पैदा किये गये हैं, यद्यपि दूसरे देश, दूसरी आबहवा और दूसरे समाज में। किन्तु वे सिद्धान्त तब तक बेकार हैं, जब तक कि हमारी धरती, हमारे देश, हमारी आबहवा, और हमारे समाज से मिलाकर फिर से इन्हें नया न कर लिया जाय। क्या ज़रूरत है कि चार ही मन्त्री बनाये जायँ? ये दिखलाने के लिए कि दो ही हज़ार में हमारे मन्त्री काम कर लेते हैं? अगर चार हज़ार लगता हो और उससे फ़ायदा कई गुना ज़्यादा हो तो इस दो हज़ार की कमी से फ़ायदा? आपने क्यों नहीं आठ मन्त्री रखे? क्यों नहीं एक-एक विभाग एक मन्त्री को दिया जाय जिससे उनके ऊपर फाइल का बोझ कम होता और उन्हें कुछ लिखने-पढ़ने और सोचने-समझने का भी मौक़ा मिलता। कहते हैं, चार से आठ करने में कितने ही लोग झगड़ा करने के लिए तैयार हो जाते हैं। झगड़ा क्या ख़ाक पैदा करते? झगड़ा तो तब पैदा होता है, जब कि योग्यता हो या न हो, लेकिन हरेक नेता अपनी जाति के आदमी को भरना चाहता

है। दलित और मुसलमान के प्रतिनिधि को रखना तो इस दृष्टि से ज़रूरी है कि उस वर्ग के राष्ट्र विरोधियों को वैमनस्य पैदा करने का मौक़ा न मिले। लेकिन राजपूत और ब्राह्मण, कायस्थ और भूमिहार में इस जाति के ख़्याल करने की क्या ज़रूरत ? झगड़े की जड़ ख़ुद ही आप पहले तैयार करते हैं और फिर उसी का बहाना बनाकर ग़लत रास्ता पकड़ते हैं। जब तक कांग्रेस के नेता जात-पाँत के ख़्याल को नहीं छोड़ते हैं, तब तक यह बुराई दूर ही नहीं हो सकती। वे राष्ट्र निर्माण पर बड़े हल्के दिल से सोचते हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी-अपनी जाति के अगुआ भी बने रहेंगे और राष्ट्र के भी। इस ख़्याल को उन्हें छोड़ देना पड़ेगा। नेताओं के लिए सबसे अच्छा रास्ता यह है कि सभी कांग्रेसी नेता जात-पाँत तोड़ कर आपस में शादी-ब्याह का सम्बन्ध जोड़ें। जब भूमिहार का समधी राजपूत होगा और कायस्थ का दामाद ब्राह्मण होगा तो ये झगड़े रहेंगे ही नहीं। आप अपनी हज़ार बरस की बेवकूफ़ियों को साथ लेते हमारी आजकल की जटिल समस्याओं को हल करना चाहते हैं, सो नहीं होगा। कमज़ोरियाँ आपके भीतर पड़ी हुई हैं। बाज़ वक़्त आप उनके अस्तित्व को अनुभव भी करते हैं। फिर सोच लेते हैं, ये तो वैयक्तिक हैं। चाहे आप ब्रह्मचारी हों या नहीं, चाहे शराबी हों या परहेज़गार, चाहे मांसाहारी हों या

शाकाहारी, आपके राष्ट्रीय कार्य से उसका कोई उतना सम्बन्ध नहीं। लेकिन छोटे-छोटे स्वार्थों के लिए भीतर की गुटबन्दी, जात-पाँत का ख़्याल, नौकरियों के दिलाने और सभासदों के मनोनीत करने में यदि आप कुपथ ग्रहण करते हैं, तो राष्ट्र के लिये ये सबसे बड़ा पाप हैं। जात-पाँत का ख़्याल हमारी कांग्रेस की संस्थाओं में सबसे बड़ी हानिकारक चीज़ है और इस भयङ्कर बीमारी में हमारे छोटे-छोटे कार्यकर्ता ही नहीं फँसे हुए हैं, इसमें तो चोटी के नेता लोग भी शामिल हैं और वही हमारे राजनैतिक जीवन की सबसे बड़ी गन्दगी है। नवजवानों को इस बारे में अपनी राय पक्की कर लेनी चाहिए और बिना किसी मुलाहज़ा-मुरौवत का ख़्याल किए इसका विरोध करना चाहिए। अभी तक तो हमारे सभी राजनैतिक प्रोग्राम कल्पना-जगत में थे। लेकिन अब तो ठोस धरती पर आ गये हैं। कांग्रेस के नेताओं के हाथ में सरकार की बागडोर है। यदि यह ख़्याल ऐसा ही बना रहा तो यदि कांग्रेस को तबाह न कर देगा तो कमज़ोर और बदनाम ज़रूर कर देगा। लोग जात-पाँत का ख़्याल करके अपने लायक़ भाई-बन्धुओं को नौकरी दिलवाएँगे और बदनाम होगी कांग्रेस। पिछले मन्त्रियों ने ऐसी बहुत-सी बेइमानियाँ की हैं। कितने ही निकम्मे आदमियों को प्रोफ़ेसर और डाक्टर जैसे दायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर दिया गया

है। वहाँ जाकर वे मोटी-मोटी तनख्वाहें लेते हैं; बैठे-बैठे मक्खियाँ मारते हैं और यदि कुछ और करते हैं तो चापलूसी, घूसखोरी, पक्षपात और सामाजिक वैमनस्य का फैलाव। यदि कांग्रेसवाले, इन वैयक्तिक स्वार्थों को सामने रखेंगे तो जैसे डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसिपैल्टियों के रुपये बेईमान मेम्बरों और धोखेबाज ठीकेदारों द्वारा उड़ाये जाते हैं वही बात सरकार में होगी। म्यूनिसिपैल्टियों और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में देखते नहीं हैं, आज ५० हज़ार रुपया लगा कर एक मील की सड़क बनती है और तीन महीने बाद उसमें गड्ढे पड़ जाते हैं। ईंटों की रोड़ी बिछा दी गई, उसे कुछ थाप-थूप दिया गया और यदि शहर और क़स्बे की बात हुई, तो उस पर कुछ पीपे कोलतार के भी लुढ़का दिये गये। ओवर्सियर और इंजिनियर आँख से सारी बेईमानी को देखते हैं, लेकिन तब भी रिश्वत के लोभ से या मेम्बर या चेयरमैन के डर से ठीकेदार के पक्ष में अपनी रिपोर्ट दे देते हैं। जहाँ देखिए वहीं रिश्वत, नज़राना, गन्दगी, सिफ़ारिश का ही बाज़ार गर्म है। और कांग्रेसवालों ने जाकर अगर जात-पाँत के ख़्याल को न छोड़ा तो उसमें कोई सुधार होने की नौबत नहीं, क्योंकि सुधार एक मोटे तौर से सिद्धान्त पर लेक्चर देने से थोड़े ही होगा? गन्दगियों के हटाने के लिए कभी किसी कायस्थ भाई को हेडक्लर्की से बर्ख़ास्त करना

पड़ेगा, कभी किसी भूमिहार भाई को डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्टी से जवाब देना पड़ेगा, सभी नालायक़, जो किसी न किसी तरह से अपनी जगहों पर पहुँच गये हैं, और सारी रिश्वत और शैतानी करते जा रहे हैं, वे आख़िर किसी न किसी मन्त्री या मेम्बर के जाति भाई ही होंगे। ढूंढ़ने-ढाँढ़ने पर कोई न कोई उनका रिश्ता भी साबित हो जायगा। यह जात-पाँत, ख़्याल रखिए, कोई भी सुधार नहीं होने देगी। बल्कि पहले तो हरेक विभाग के मुखिया अँग्रेज़ होते थे और उनके भाई-बन्धुओं की संख्या हिन्दुस्तान में बहुत कम थी। इसलिए बहुत बार वे योग्यता का भी ख़्याल रखते थे। और अब, जब सभी विभागों के अध्यक्ष भारतीय हैं और उन्हीं के भाई बन्द सरकारी नौकरियों, सार्वजनिक संस्थाओं में बैठे सभी गन्दगियों को फैला रहे हैं, उनका हटाना कैसे सम्भव होगा यदि जाति का ख़्याल नहीं हटा।

हमारे कांग्रेसी नेता और मन्त्री लोग हमें क्षमा करेंगे यह कड़ी सचाई कहने के लिए, लेकिन जिस ख़तरे की तरफ़ उनका रुख़ है, यदि उससे रोकने के लिए नहीं कुछ किया गया, तो यह देश के लिए हानिकारक बात होगी। संक्षेप में मन्त्रियों को चाहिए कि किसानों के हक़ के लिए लड़ें और ज़मीन्दारी प्रथा को जल्दी से जल्दी उठवायें। सरकारी नौकरियों और सार्वजनिक संस्थाओं

में जितनी गन्दगियाँ हैं उनके पीछे लाठी लेकर पड़ें। वालिग वोटरों द्वारा चुनाव और मनोनीत सभासदों का रोकना निश्चित करें। यदि ऐसा न करेंगे, तो कांग्रेस में फूट होना निश्चय है। किसान, मज़दूर और साम्यवादी, नरम कांग्रेसियों के ग़ुलाम नहीं हैं, जो हरेक बात में उनकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाते रहें।

६—ज़मीन्दारी नहीं चाहिये

शुक्रवार (अगस्त १६३१) को बिहार के ज़मीन्दारों की जो सभा हुई थी वह उनकी उपस्थिति और उत्साह की दृष्टि से अभूत-पूर्व थी। "इण्डियन नेशन" के अनुसार "प्रान्त के प्रत्येक कोने से सैकड़ों की संख्या में ज़मीन्दार आये थे और बहुत बड़ा हॉल और बाहर का ओसारा ठसाठस भरे हुए थे। बड़े-बड़े उपाधिधारी राजा और महाराजों के साथ छोटे से छोटे ज़मीन्दार भी कंधे से कंधे भिड़ा कर ज़मीन्दारों की उन बहुसंख्यक समस्याओं को हल करने के लिए उत्सुक थे जो आज उस समूचे वर्ग के सामने उपस्थित है। उद्देश्य की महत्वपूर्ण एकता उनमें दृष्टिगोचर हो रही थी जिसने एक सामान्य भय की छाया के कारण समुदाय, जाति और सम्प्रदाय के सभी बन्धनों को छिन्न-भिन्न कर दिया था।"

अब तक बिहार के ज़मीन्दार, अपने अन्य प्रान्त के भाइयों के समान अपने समय की सरकार की शक्ति की बहुत आशा रखते थे क्योंकि कांग्रेस का आदर्श और इसका कार्य-क्रम उनके लिए एक

ऐसा स्वप्न था जो कभी पूरा होनेवाला न था। इसलिए स्वयं ज़मीन्दारों में ही अपनी सभा के सदस्य बनने में भेदभाव था। छोटे ज़मीन्दारों को बड़े ज़मीन्दार अपने में गिनते ही न थे। इस ज़माने में 'ज़मीन्दार सभा' केवल महाराजों-राजों और बड़े-बड़े ज़मीन्दारों की थी। वे अपनी वर्ग में भी समानता का स्वप्न नहीं देखते थे। अब उनके सभापति का यह कहना बहुत अनुचित मालूम होता है "इस शोचनीय अवस्था का एक सबल कारण यह भी है कि हम उस प्रजातन्त्र के भाव को जिसकी तरफ़ देश बढ़ रहा है समझने में असमर्थ रहे हैं।' भारतवर्ष में प्रजातन्त्र के लिए वे उपयुक्त दिन नहीं थे। प्रजातन्त्र का प्रचार करना निर्दोष काम नहीं समझा जाता था। उस समय ज़मीन्दारों ने अपने स्वार्थ-साधन के लिए जो उचित समझा उसका उत्साह से सम्पादन किया। यह कहना बिल्कुल सच नहीं है, बहुत वर्षों तक हमलोग राजनैतिक आन्दोलनों के केवल मौन दर्शकमात्र थे; क्योंकि हमलोगों को गत सरकार की प्रतिज्ञाओं में आत्मरक्षा का विश्वास था। अतएव हमें प्रतिदिन अपनी पुरानी परम्परा और क़ानून के अनुसार कार्य करने में ही सन्तोष रहा। ज़मीन्दार केवल मौन दर्शक ही नहीं थे, वे राजनैतिक आन्दोलनों के समय सरकार के सक्रिय समर्थक भी थे। वे अमन सभाओं के संस्थापक एवं संचालक थे और जन

एवं धन से स्वतन्त्रता के आन्दोलन को कुचल डालने में पुलिस के सहायक थे। जब गोलियाँ चलती थीं तब भी वे मरे और घायल मनुष्यों के बगल में नहीं दिखलाई पड़ते थे, वरन् इसके प्रतिकूल वे पुलिस का ही भोजन और पान से सत्कार करते हुए पाये जाते थे। निःसन्देह "देश-भक्ति किसी विशेष समुदाय या वर्ग की ही वस्तु नहीं है।" किन्तु ज़मीन्दार अपने स्वार्थ के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने से बिल्कुल ही पृथक् रहते थे। यद्यपि देश के असंख्यक निवासियों के लिए स्वतन्त्रता का आन्दोलन अत्यन्त आवश्यक था और जिसमें ज़मीन्दारों को पूर्ण रूप से भाग लेना चाहिये था; किन्तु अब तो उनका भाग लेना एक आवश्यक काम हो गया है। ज़मीन्दारों की ओर से बहस करते हुए महाराजाधिराज कहते हैं, "हमको विश्वास है कि हमारे प्रधान मन्त्री इस बात को स्वीकार करेंगे कि ज़मीन्दारों ने भी देश की उन्नति में गत वर्षों में भाग लिया; क्योंकि हमलोग विदेशी नहीं हैं और हमारा सुख और दुख देश के सुख और दुख पर निर्भर करता है।" ज़मीन्दारों ने भाग लिया है ? और किस में ? क्या देश की उन्नति में ? सचमुच ही यह कहना बहुत साहस का काम है, विशेष कर उस समुदाय का जो सदैव विदेशी शासकों के साथ रहा और जिसके स्वार्थ के लिए उसका जन्म हुआ था। उन लोगों ने अगर कुछ किया है तो अपने स्वार्थमय उपभोगों

में तल्लीन रहे हैं और लोगों के कष्ट की वृद्धि की है। क्या जमीन्दारों ने बिहार की राष्ट्रीयकला में मदद पहुँचाई है? क्या उन्होंने राष्ट्रीय संस्कृति की अभिरुचि उत्पन्न की है? वे कहते हैं कि वे नृत्य और सङ्गीत के बड़े संरक्षक रहे हैं किन्तु उनकी संरक्षकता क्या कला के निमित्त थी। ऐसे लोगों से कला और साहित्य की उन्नति की आशा रखना बिल्कुल व्यर्थ है।

ज़मीन्दारी प्रथा को उठा देने के प्रतिकूल बहस करते हुए महाराजाधिराज ने कहा, "मैं इस सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं कि ज़मीन्दारी प्रथा नाश कर देने से किसानों का हित होगा। ज़मीन्दारी प्रथा बहुत विचार के बाद आरम्भ की गई थी और इसको उठा देने से प्रान्त का सारी सामाजिक एवं आर्थिक सङ्गठन कड़कड़ाकर चूर्ण हो जायेगा। इस प्रकार की चेष्टा से अव्यवस्था एवं अशान्ति फैलेगी तथा ज़मीन्दारों और किसानों की ही भयावह परिस्थिति हो जायेगी।" निःसन्देह ज़मीन्दारी प्रथा के नाश से किसानों की आर्थिक एवं मानसिक अवस्था सुधर जायेगी। ज़मीन्दारी प्रथा ग़रीब किसानों की हीनावस्था का प्रधान कारण है; गाँवों में ग़रीब लोगों के असंख्य दुख के कारण है। ज़मीन्दारों के सामने उनकी अवस्था ग़ुलामों से बढ़कर नहीं है। ज़मीन्दारों की आज्ञा पाते ही उनको बेगार करनी पड़ती है। उन्हें

अपने मालिकों की ग़ैरक़ानूनी सभी माँगें पूरी करनी पड़ती हैं और यहाँ तक कि उनका जीवन और प्रतिष्ठा भी प्रायः ज़मीन्दारों की विषय-वासना और क्रोध से सुरक्षित नहीं है। यदि ज़मीन्दारी प्रथा में कोई और बुराई न होती तो भी लोगों में इतनी नीच मनोवृत्ति पैदा करना ही इसके नाश करने के लिए काफ़ी कारण था।

यह सबको अच्छी तरह मालूम है कि ज़मीन्दारी प्रथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपनी मालगुज़ारी वसूल करने के लिए क़ायम की थी, क्योंकि उन झंझटों के ज़माने में किसानों से लगान वसूल करना कठिन था। ज़मीन्दारी प्रथा न तो किसानों की आर्थिक भलाई के लिए और न देश की भलाई के लिए क़ायम की गई थी। इन ज़मीन्दारियों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि वह ज़मीन पर व्यर्थ का भार है, क्योंकि ज़मीन इतनी बड़ी जन-संख्या के पालन करने में असमर्थ है। पूंजीपतियों को तो अपने कल-कारख़ानों के प्रबन्ध में कुछ काम भी करना पड़ता है किन्तु ज़मीन्दारों को तो अपनी आमदनी हासिल करने में कुछ भी नहीं करना पड़ता। इनकी आमदनी नियत है और सदैव इनकी इच्छा पर निर्भर है। इन बड़े ज़मीन्दारों के सम्बन्ध में पाश्चात्य शिक्षा हानि पहुँचाने वाली ही हुई है : क्योंकि पाश्चात्य ज़मीन्दारों में जो कुछ बुराइयाँ

प्रचलित हैं, वे इनमें भी प्रवेश कर गई हैं। ज़मीन्दार आलसी और दूसरों के श्रम पर निर्भर करने वाले के सिवाय कुछ नहीं हैं। सच पूछिये तो ज़मीन्दारी प्रथा न तो सामाजिक और न आर्थिक दृष्टि से ही उचित ठहराई जा सकती है। जब जनता के सुख के सामने कोई भी विघ्न आता है, तो उसका नाश करना आवश्यक है। अव्यवस्था और अशान्ति का भय भी उन कार्यकर्त्ताओं को जो अपने लक्ष्य पर पहुँचने का दृढ़ निश्चय कर चुके हैं भयभीत नहीं कर सकती। अव्यवस्था और अशान्ति की धमकी उस समाज की जिसकी (गणना) संख्या बिलकुल ही तुच्छ है, जैसे कि बिहार के ज़मीन्दारों की है और जिनके पास न तो नैतिक और न राजनैतिक शक्ति है विचित्र है और उस वर्ग के लिए आत्मघातिनी है। हम यह जानते हैं कि हमारे प्रान्त में कुछ ऐसे ज़मीन्दार हैं, जिन्होंने गत चुनाव के समय बहुत कुछ अशान्ति से काम लिया और अपना ज़मीन्दारी रोबदाब अब भी जारी रखना चाहते हैं। लेकिन उनको अब यह समझ लेना चाहिये कि ऐसा करना उनकी मृत्यु का कारण होगा। उनको यह जान लेना चाहिये कि केवल प्रार्थना और विनम्रता से ही उन्हें कुछ सांस लेने की जगह मिल सकती है। क्या उन लोगों ने अभी यह नहीं समझा है कि उस वर्ग का समर्थन उन्होंने खो दिया, जो आजतक उनका समर्थन करता आया है?

इसमें शक नहीं कि उनके पास रुपये की शक्ति है, किन्तु यदि इसे वे देश की उमंगों को कुचलने में ख़र्च करेंगे तो यह भी उनके पास नहीं रहने पायेगी। उनके सभापति ने कहा, "हम लोग आसानी से अपने न्यायपूर्ण अधिकारों को किसी वर्ग की चाह की प्रतिष्ठा करने के लिए नहीं छोड़ सकते चाहे वह वर्ग कितना ही बहुसंख्यक और चिल्लानेवाला क्यों न हो।" यह ज़मीन्दारों की एक दूसरी विनम्र पर ज़ोरदार धमकी है। कृपया वे यह तो बतलावें कि उनके न्याय-पूर्ण अधिकार कौन से हैं? उन्होंने अपने मालिकों के लिए उप-योगिता का जीवन बिताया है, अब मालिकों में परिवर्तन हो गया। अब वे फिर अपने अस्तित्व को न्यायपूर्ण सिद्ध करें। इस वर्ग के जितने पुरुष या स्त्री हैं, उनका अस्तित्व केवल समाज की दया ही पर निर्भर है।

देर करने की चालें व्यर्थ हैं

देर करने की चालें न चलेंगी। अपर चैम्बर से उन्हें बहुत आशा न रखनी चाहिये। सबसे पहले तो अपर चैम्बर को सरकार के किसी प्रस्ताव को अनिश्चित काल तक स्थगित करने का अधिकार नहीं है। उनको निर्दिष्ट समय के भीतर किसी बात का निपटारा कर देना होगा, नहीं तो शीघ्र ही दोनों कौन्सिलों की सम्मिलित बैठक होगी। अगर यह भी मान लें कि अपर चैम्बर की चालें सफल हो

जायँ तो भी सरकार इसको चुपचाप बर्दाश्त न कर लेगी। वह दूसरा चुनाव करवा सकती है जिसमें ज़मीन्दारों की बुरी गति होगी।

दूसरी बात यह याद रखने की है कि काग्रेस छोटे ज़मीन्दारों के साथ बड़ों से बिल्कुल भिन्न व्यवहार करना चाहती है। छोटे ज़मीन्दार जिनकी आमदनी १०००० से कम है वर्तमान सरकार की हाथों से बड़े ज़मीन्दारों की अपेक्षा बहुत अच्छे व्यवहार की आशा रख सकते हैं। उन्हें कृषि-टैक्स का भय न होना चाहिये। दूसरी तरफ़ इनको रैयतों का ख़्याल रखना चाहिये और सरकार को किसानों की दशा सुधारने वाले क़ानूनों से सहायता पहुँचानी चाहिये। कला-कौशल सम्बन्धी जो नई योजनायें तैयार होगई उसमें उन्हें उनके भविष्य के लिये बहुत कुछ सुअवसर प्रदान किया जायेगा। जब समाज की सम्पत्ति का राष्ट्रीय या सामाजिक रूप देने का भी मौक़ा आयेगा, तो यह विचार किया जायेगा कि इनके द्वारा छोटे ज़मीन्दारों को विशेष कष्ट न पहुँचे; किन्तु यदि ये बड़े ज़मीन्दारों के द्वारा बहकाये जायेंगे; जो कि अबतक उनको अपने बराबर नहीं मानते थे, तो इसका आवश्यक परिणाम इन्हें भोगना होगा। अगर छोटे ज़मीन्दार विचारपूर्वक अपने भविष्य को सोचेंगे, तो उन्हें यह पता चल जायेगा कि उनका हित है, कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल

जनता के हित के लिए जो कुछ क़ानून बनायेगा उसी के समर्थन में। ज़मीन्दारों को यह आशा नहीं रखनी चाहिये कि वे कांग्रेस में किसी तरह का भेद डाल सकेंगे। बल का प्रयोग उनके वर्ग की हत्या करने वाला होगा। ऊपर की कौंसिल में चालें चलकर वे कुछ देर करा सकते हैं; लेकिन अन्त में जो बातें मैंने कही है उसमें कोई भेद नहीं पड़ेगा।

यद्यपि यह आशा करना बिल्कुल फ़िज़ूल है कि अदृष्ट रूप से ब्रिटेन की सरकार या साम्राज्यवादी उनकी सहायता करेंगे तथापि शायद उनके हृदयों में ऐसी आशा हो। वे शायद यह सोच रहे हों कि इस विधान को उठा कर या कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल को तोड़ कर वे अपने मतलब को साध सकेंगे। लेकिन वह बिल्कुल व्यर्थ है। सरकार को कांग्रेस के साथ सुलह करनी ही पड़ेगी। एक या दो बार कांग्रेस-मन्त्रिमण्डल को तोड़ने से ही ज़मीन्दारों का उद्देश्य सिद्ध न होगा। मिश्र का वफ़्द मन्त्रिमण्डल दो बार तोड़ा गया किन्तु अन्त में ब्रिटिश सरकार को स्थायी शान्ति के लिए प्रार्थना करनी ही पड़ी और पीछे हम लोग वफ़्द नेताओं और मिश्र के प्रधान मन्त्री का ब्रिटेन के बड़े से बड़े पुरुषों द्वारा स्वागत होते पाते हैं। स्वयं ब्रिटेन ने ही मिश्र का नाम राष्ट्र-संघ में सदस्य बनाने के लिये उपस्थित किया। और इस समय मिश्र राष्ट्र-संघ में इङ्गलैण्ड और

दूसरे राष्ट्र-संघ के सदस्यों के साथ बराबरी की हैसियत रखनेवाला सदस्य है। मिश्र का भाग्य पहले के विद्रोही वफ़्द पार्टी के हाथ में है। ब्रिटेन की दूरदर्शिता से सब परिचित हैं और यह सभी को मालूम है कि अभी या कुछ देर से ब्रिटेन कांग्रेस के साथ अवश्य सुलह करेगा।

सब से अच्छा ज़मीन्दारों के लिए रास्ता यह है कि कुछ ले देकर वे अपने हक को छोड़ दें। उस द्रव्य के साथ वे नये जीवन का आरम्भ कर सकते हैं और देश में औद्योगिक योजना में अपने रुपये लगा सकते है। स्वार्थ रक्षा के लिये ब्रिटेन के ज़मीन्दारों का उदाहरण देना व्यर्थ है। ब्रिटेन के अधिकांश लोग औद्योगिक क्षेत्रों में लगे हैं। कम से कम आधे किसान भी यदि औद्योगिक क्षेत्रों में रखे जा सकें तो हमारे ज़मीन्दार ब्रिटेन के ज़मीन्दारों का उदाहरण दे सकते हैं। देश में औद्योगिक योजना के लिए ज़मीन्दारी प्रथा का नाश होना एक बड़ा भारी आशीर्वाद होगा क्योंकि इस अनुत्पादन का व्यवसाय में कोई रुपया न लगायेगा और जो रुपये मिलेंगे वे नये और औद्योगिक व्यवसायों में लगाये जायेंगे तथा हज़ारों आलसी दिमाग़ और हाथ अपनी शक्ति राष्ट्रीय उद्योग-धंधों की उन्नति करने में लगाने के लिये बाध्य होंगे।

:०:

७—किसानो, सावधान !

भारतीय किसानों की आर्थिक अवस्था कितनी गिरी हुई है, इसका पता उन्हें नहीं है। जो लोग उनकी श्रेणी से बाहर के हैं उनको भी इसका ख़्याल नहीं हो सकता। हमारे किसानों को ग़रीबी की तुलना करने के लिए हमें भारत से बाहर के किसानों की आर्थिक अवस्था जानने की ज़रूरत है। ऐसी गिरी हुई दशा में पहुँचे हुए किसानों को कांग्रेस ने जाग्रति, जीवन और आत्मसम्मान का सन्देश दिया ; वे जागे। वैसे तो भारत के और प्रान्तों में भी किसानों में जागृति हुई लेकिन बिहार के किसानों की जागृति अद्वितीय है। यहाँ वे बहुत कुछ सङ्गठित भी हैं। बिहार में बड़ी-बड़ी ज़मीन्दारियों और इस्तमरारी बन्दोबस्त होने के कारण किसानों और ज़मीन्दारों का विभाग स्पष्ट था। दोनों श्रेणियाँ अपने स्वार्थ, सुख-दुख और सामाजिक सम्बन्ध में एक दूसरे से इतनी भिन्न थीं ; कि कांग्रेस-आन्दोलन को उस विभाजक सीमा पर पक्की मुहर लगाने के लिए बहुत प्रयत्न नहीं करना पड़ा। उसे सिर्फ़ धूमिल

बातों को स्पष्ट करा देना काफ़ी था और वह उसने करा दिया। बिहार के किसानों की शक्ति कितनी प्रबल है इसका ख़्याल शायद हमारे नेता, जो आज घुलमिल कर बड़े-बड़े ज़मीन्दारों के साथ चाय-पानी करते तथा हाथ मिला रहे हैं, उनको भी नहीं और साधारण किसान को भी इसका पता नहीं है। हाँ, हमारे किसान-कार्यकर्त्ता इस शक्ति को जानते हैं और पूरी तौर से उस शक्ति का ज्ञान तो साम्यवादियों को ही होना चाहिये और है। किसानों की कठिनाइयाँ और कष्ट काल्पनिक नहीं हैं; जिनको कि आप लच्छेदार बातों या बहानों से दूर कर सकते हैं या उन्हें सन्तुष्ट कर सकते हैं। किसान धोखे में नहीं आ सकते क्योंकि वह जीभ हिला देने या स्याही से काग़ज़ काला कर देने मात्र से सुखी नहीं किये जा सकते। १६२१ से ही उन्होंने कांग्रेसवालों के उपदेश सुने हैं और इसका भी उन्होंने कुछ ज्ञान प्राप्त किया है कि कैसे वह अन्न-वस्त्र-विहीन हो कष्टमय जीवन बिता रहे हैं। वे कांग्रेस के मन्त्रियों की एक भी तसल्ली देने की बात नहीं सुनेंगे; वे तो पूछेंगे—पहले आधा पेट खाना मिलता था आज हमें पौन पेट खाना दे रहे हो या नहीं? पहले हमें साल भर एक धोती से गुजारा करना पड़ता था, आपकी वजह से हमें धोती के साथ एक अँगोछा भी मिलने जा रहा है या नहीं? सारांश यह, कि वे आप के काम को प्रत्यक्ष देखना चाहेंगे।

सुनते हैं आप ज़मीन्दारों के साथ समझौता करना चाहते हैं। मन्त्रियों में ज़मीन्दार ही अधिक हैं इसके बारे में भी लोग कानाफूसी कर रहे हैं। मेरी समझ में मन्त्रियों पर स्वार्थी होने का लांछन नहीं लगाया जा सकता। लेकिन सम्बन्ध, दोस्ती और हेलमेल काफ़ी प्रभाव डालते हैं। लेकिन दुर्भाग्य से तो हमारे यहाँ शादी-सम्बन्ध और जात-पाँत का सम्बन्ध भी इस विषय में बड़ा बुरा असर करता है। ज़मीन्दारों को हमें हटा देना है और जितनी जल्दी हो उतनी। उनके साथ हमारे नेता समझौता करना चाहते हैं और वह समझौता निश्चय ही किसानों के नाम से किया जायगा। किसानों के वोट से ही कांग्रेस ने गवर्नमेण्ट को अपने हाथ में लिया है। किसान ही मन्त्री और मेम्बर बनाने वाले हैं, इसलिए वे जो समझौता करेंगे उसे किसानों की ओर से समझा जायगा और यह समझौता ज़मीन्दार लोग अपने अधिकार के चार्टर के तौर पर पेश करेंगे।

किसानों के लिए सब से ख़तरनाक समय इस वक़्त आया है; क्योंकि उनकी तरफ़ से गये प्रतिनिधि कुछ करने का अधिकार रखते हैं। और अब, जब वे कुछ कर देंगे उसको हटाने के लिए बहुत कठिनाई झेलनी पड़ेगी। उस दिन एसेम्बली के उद्घाटन के समय ५० हज़ार किसानों की भारी भीड़ को देख कर ज़मीन्दारों के

ेजे पर साँप लोट जाना तो स्वाभाविक ही था, लेकिन उससे ारे नेताओं को भी कम अरुचि नहीं हुई। वे कहते हैं—क्या सानों को हम पर विश्वास नहीं है ? क्या हम किसानों के आदमी हीं हैं ? उसके उत्तर में मैं कहूँगा कि जिन लोगों को भीतर की तें कुछ अधिक मालूम हैं वे तो इसी वक्त से चिन्तित और सतर्क गये हैं और साधारण जनता को भी यह जानने में देर न लगेगी अगर किसान सजग न रहेंगे और अपने अधिकार के लिए बड़ी बड़ी क़ुर्बानी करने को तैयार न होंगे, तो धोखा खायेंगे। बड़े-बड़े मीन्दार खूब अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी श्रेणी के लिए यह न्म-मरण का सवाल है। उनके पास अगर हथियार होते तो वे ली लड़ाई लड़ते ; लेकिन उसके लिए तो गुँजायश ही नहीं। एक ड़े प्रभावशाली ज़मीन्दार नेता ने तो, चाहे इसे बेवकूफ़ी समझिये, क्राध कांग्रेसी मन्त्रियों को रास्ते से हटा देने की राय भी पेश की ी। सोचिये, कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल जो बहुत डर भय खाकर ज़मीन्दारों ी आमदनी पर कर बैठाने जा रहा है, उससे ज़मीन्दारों को ३०-० लाख रुपया और देना होगा। हमारे हिसाब से तो उसे दो रोड़ होना चाहिये। तो क्या इतने रुपयों को ज़मीन्दार ख़ुशी से ाने देंगे ? और इससे भी बढ़कर तो ख़ुद ज़मीन्दारी प्रथा के ार ही नंगी तलवार लटक रही है ! तो क्या इसके लिए वे चुप-

चाप रहेंगे ? वे अपनी सारी शक्ति लगा रहे हैं। साम दाम दण्ड विभेद सभी सोच रहे हैं। जहाँ रिश्वत देने की ज़रूरत होगी वहाँ वे लाखों का तोड़ा खोल देंगे। जहाँ जातभाई के सवाल से काम चलेगा वहाँ उसके उपयोग से भी वे बाज नहीं आयेंगे। किसानो, सावधान हो जाओ! और आँख खोल कर देखते रहो कि तुम्हारे प्रतिनिधि तुम्हारे विरुद्ध कोई काम न कर सकें।

कांग्रेस पहले अपने प्रतिनिधियों को गवर्नमेण्ट के लोगों की चायपार्टी तथा उनसे बहुत हेलमेल मिलाने के विरुद्ध रही। मैं समझता हूँ वही बात अब कांग्रेस को—जिसकी शक्ति किसानों पर निर्भर है—अपने प्रतिनिधियों को ज़मीन्दारों से घनिष्ठता पैदा करने से रोकने के लिए बरतना चाहिए, नहीं तो इसका बहुत बुरा असर होगा।

किसानों के इस पहले प्रदर्शन से ही ऊपर के कुछ नेता चिढ़ गये हैं। अभी तो उन्हें इससे बड़े-बड़े प्रदर्शनों के लिए तैयार रहना चाहिये। शायद कल कांग्रेसी मंत्रिमण्डल दो-चार बहाने ढूंढ़ कर सलामी-सार्टिफिकेट को भी रखने जा रहा है। ज़मींदारी प्रथा के उठाने तथा ज़मीन पर कम से कम जोतनेवाले ही का हक़ दिलाने की बात तो दूर रही। अगर कोई इस तरह की कमज़ोरी मंत्रियों ने दिखलाई तो किसान फिर अन्धेरे में नहीं रहेंगे। पिछला प्रदर्शन

तो एक-ब-एक हुआ था। उसके लिए न विशेष सङ्गठन या प्रचार किया गया था। लेकिन अगले जाड़ों की बैठक में सारे प्रान्त के किसानों का एक सङ्गठित प्रदर्शन पटना में होना चाहिये। इसके लिए किसान कार्यकर्त्ताओं को पहले से तैयारी करनी चाहिये। बिहार प्रान्त के हरेक ज़िले से नहीं, हरेक थाने से चुने हुए किसानों की टोलियाँ पैदल चलें और उनके ठहरने आदि का स्थान पहले से निश्चित कर दिया जाय। कहाँ पर एक जिले की सारी टोलियाँ इकट्ठी हों, इसे भी पहले से तय कर लिया जाय और फिर सभी किसान कब पटना में एकत्रित होते हैं इसका भी निश्चय कर लिया जाय। टोलियाँ राह चलते हर जगह किसानों के अधिकार और कर्त्तव्य का प्रचार करती आवें। साथ ही योग्य नेताओं के अधीन इतने दिनों की यात्रा में उन्हें अनुशासन पालन करने तथा सङ्गठित होने का भी अच्छा अवसर मिलेगा। एक लाख किसानों को उस दिन पटना में जमा कर देना कोई मुश्किल न होगा। लेकिन संख्या चाहे जितनी हो, पूर्ण तथा सङ्गठित होनी चाहिये। उनके जलूस के देखने से ही जिसमें मालूम हो जाये कि वे किस ज़िले, किस थाने से आये हैं, इसका भी प्रबन्ध होना चाहिये। किसानों की माँगों को स्पष्ट, सादे-सादे शब्दों में लिख कर हरेक थाने के अधिक से अधिक किसानों के दस्तख़त या निशान करवाने चाहिये और ये

सारे दस्तख़त किये हुए कागज़ एक सन्दूक में बन्द कर उसे दो किसान अपने कन्धे पर आगे-आगे ले चलें। उस बक्स के सामने कपड़े पर मोटे अक्षरों में कितने किसानों की दस्तख़त हैं; उनकी संख्या तथा थाना और ज़िले का नाम रहना चाहिये जिसमें दर्शक को पूछने की ज़रूरत न हो। एक ज़िले की टोली के इकट्ठा होने पर थाने-थाने की टोलियों में आगेपीछे चलें और हरेक थाने की टोली के साथ उसके दस्तख़तों का बक्स हो। ज़िले की दस्तख़तों की संख्या को ज़िले के साइन-बोर्ड के साथ दिखलाया जाय और उसी तरह किसान यात्रियों की संख्या को भी। यह सब इसलिये होना चाहिये कि लोग समझ जायें कि पटना जितने लोग आये हैं वे ही किसानों के अधिकार के लिये नहीं तैयार हैं बल्कि उनके पीछे बहुत भारी जनसंख्या है और यदि उसे रोका न जाता तो प्रदर्शन कई गुणा अधिक बड़ा होता।

किसानों और खेतिहर-मज़दूरों का अधिकार अन्त में आकर एक ही समस्या के दो रूप हैं—इसमें शक नहीं कि खेतिहर-मज़दूरों की अवस्था शोचनीय है और उसका हल होना चाहिये। लेकिन हमें ख़्याल रखना चाहिये कि हम सभी क्रान्तियाँ एक साथ नहीं कर सकते! कोई सभी क्षेत्रों में एक साथ नहीं लड़ सकता। खेतिहर-मज़दूरों को किसानों से लड़ाने के लिये ज़मीन्दार कोर-

कसर बाक़ी नहीं लगा रहे हैं ; और ज़मीन्दारों को वोट दिलाने के लिये दौड़नेवालों या कांग्रेस के विरोध करनेवाले लोगों के दिल में जिस प्रकार खेतिहर-मज़दूरों के प्रति दया छलछला आई है उससे तो किसानों और खेतिहर-मज़दूरों दोनों को सावधान हो जाना चाहिये।

बिहार ने कई बार देश का पथ-प्रदर्शन किया है, इस बार उसके किसान भारत के किसानों को रास्ता दिखायें।

८—अछूतों को क्या चाहिये ?

अपने को उच्च वर्ग कहनेवाले लोग हरिजनों के साथ जो व्यवहार करते हैं वह किसी भी विदेशी के लिए, जो इस देश में न आ चुका हो, असह्य और समझ में नहीं आने लायक़ है। उन पर धार्मिक अत्याचार तथा सामाजिक अन्याय तो होते ही हैं, किन्तु अत्याचार की पराकाष्ठा तो तब होती है, जब उन्हें कोई ऐसा पेशा, जिसके द्वारा वे अपनी जीविका पैदा कर सकें, नहीं करने दिया जाता है। पनसारी की दूकान, मिठाई की दूकान और भोजनालय (होटल) खोलने की तो बात ही नहीं, कपड़े और रासायनिक द्रव्यों की दूकान भी, वे नहीं खोल सकते। यदि खोलें भी, तो कुछ ही महीना में उनका दिवाला निकले बिना नहीं रहे। भारत की अधिकांश जनता की जीविका कृषि ही है, किन्तु बहुत कम हरिजनों के पास अपनी ज़मीन है। जिन थोड़े से हरिजनों के पास कुछ ज़मीन है भी, वह भी कुछ कट्टे ही हैं; सिकमी भावली प्रथानुसार वे जब चाहें बेदखल किए जा सकते हैं। इस शताब्दी के प्रारम्भ से

हमारे कुछ नेताओं ने हरिजनों पर होनेवाले अत्याचारों पर विचार करना प्रारम्भ किया है। सच पूछिये तो महात्मा गांधी के उत्थान के पूर्व हमारे इन भाइयों के अभ्युदय के प्रश्न पर गम्भीरता से विचार ही नहीं किया गया था, किन्तु अभी भी इस विषय में जितना ध्यान दिया जाता है वह काफ़ी नहीं है। यदि भारतवर्ष के सारे मन्दिर अछूतों के लिए खोल दिए जाएँ तो भी यह समस्या हल नहीं हो सकती। भारतवर्ष की सीमा के बाहर उनकी दरिद्रता की उपमा मिल नहीं सकती। किन्तु भारत की सीमा के भीतर भी अछूतों की जो दरिद्रता है वह अचिन्त्य है। हरिजन—जो अधिकतर खेत-मज़दूर है—गुलामों से अच्छी परिस्थिती में नहीं है। थोड़े से रुपये उधार लेकर उन्हें अपना शरीर बेचना पड़ता है। उनके मालिक, उनकी केवल वे ही आवश्यकताएँ पूरी करते है जिनसे वे केवल प्राणधारण कर सकें। पुश्तें बीत जाती हैं किन्तु वह कर्ज़ कभी अदा नहीं होता। काम खोजने में उन्हें अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं। निस्सन्देह उनमें से कुछ दूसरे-दूसरे प्रान्तों बङ्गाल आदि में, जीविकोपार्जन के लिए चले जाते हैं, किन्तु उनकी कमाई का एक बड़ा अंश उनके मालिकों और गाँव के सूद-खोरों को भेंट चढ़ जाता है। भारतवर्ष के अन्यान्य ग्रामीणों की भाँति, उनको अपने ग्रामों से इतना प्रेम होता है कि अपनी दरिद्र

झोपड़ियों का परित्याग करना उनके लिए असम्भव है। सहस्रों वर्षों से गाँव के कुलीन व्यक्तियों और उनके अनुचरों ने ऐसी प्रथा क़ायम कर रखी हैं जिनसे हरिजन बच नहीं सकते। राजदण्ड से बचना हरिजनों के लिए सम्भव हो सकता है किन्तु इन अमानुषिक प्रथाओं के हथकण्डों से उन्हें छुटकारा नहीं। रहने, सोने, घर के पात्र, वस्त्र, या छाता के उपयोग करने में भी बहुत तरह के बन्धन हैं। वे इन प्रथाओं के प्रतिकूल टस से मस नहीं कर सकते, यदि करें तो ग्राम-समाज उन्हें दण्ड दिये बिना नहीं छोड़ेगा। नगरों में उन्हें कुछ स्वतन्त्रता मिलती है किन्तु ग्राम का वायुमण्डल गलाघोंटू है। यदि आप हरिजनों के प्रतिदिन के जीवन को ध्यानपूर्वक देखें तो यह समझ सकते हैं कि उनकी बर्तमान अवस्था ही दयनीय नहीं है बल्कि उनका भविष्य भी बड़ा ही अन्धकारपूर्ण है। अतएव उसमें मौलिक परिवर्त्तन की आवश्यकता है। आर्थिक स्वतन्त्रता ही सभी स्वतन्त्रताओं की जननी है, और उस स्वतन्त्रता की छाया भी इन अभागों से दूर रखी जाती है तो इनके उज्जवल भविष्य की आशा हम क्योंकर कर सकते है?

उनके लिए मन्दिरों के द्वार खोलने के लिए प्रचार करने में हमें समय नहीं खोना चाहिये। यह काम केवल व्यर्थ ही नहीं बल्कि

ख़ुद हरिजनों के लिए ख़तरनाक भी है। यह पुरोहितों की चालाकी और धर्मान्धता ही है जो कि उनकी वर्तमान अधोगति का कारण है। इन सरल मनुष्यों को ऐसी सहल सस्ती औषध न दीजिये। पुजारी, धर्म और मन्दिर को जहन्नुम में जाने दीजिये। अगर आपके सामने अपने देश और अपने लिए कोई उच्च आदर्श है; तो उनकी आर्थिक विषमताओं का अध्ययन कीजिये और उनको दूर करने की चेष्टा कीजिये। हमारे प्रान्त में ६५ लाख से अधिक हरिजन हैं। उनमें ५ लाख से अधिक किसान के रूप में नहीं भी रह सकते। अब प्रश्न यह है कि बाकी ६० लाख की दशा कैसे सुधारी जाय ? हमारे बहुत से जिलों में अधिकांश ज़मीन खेत हो चुकी है। उदाहरण के लिए सारन ज़िले का क्षेत्रफल २६८३ वर्गमील है; जिसमें २०५८ वर्गमील अर्थात् १३१७१२० एकड़ में पहले ही से खेती होती है। २०२ वर्गमील अर्थात् १२९२३० एकड़ खेती के लायक नहीं है। केवल १६५ वर्गमील अर्थात् १०५६०० एकड़ ज़मीन ऐसी है, जो खेती करने के लायक़ है। किन्तु फिर मवेशियों के लिए चरागाह का प्रबन्ध करना होगा। अगर समूची ज़मीन उसकी २४८६४६८ जनसंख्या, में बाँट दी जाये तो आधा एकड़ प्रति मनुष्य पड़ती है तो इतने से तो केवल जीवन यात्रा भी नहीं चल सकती। अब इस जनसंख्या में २७१०००

अछूत है। इससे स्पष्ट है कि जब ज़मीन की साधारण आमत इतनी कम है तब इतनी क़ाफ़ी ज़मीन की बचत नहीं पाई जा सकती जो इन दो लाख से भी अधिक खेतिहर मज़दूरों में बाँटी जा सके।

(१)

कृषि के लिए भूमि का प्रबन्ध

लेकिन सरकार एक बात कर सकती है। उन बड़े-बड़े ज़मीन्दारों, जिनकी जीविका खेती नहीं है, की बकाश्त ज़मीन, को लेकर इन हरिजनों में बाँट सकती है। अधिक से अधिक ज़मीन एक आदमी को कितनी मिलनी चाहिए सरकार इसका निश्चय कर दे और अधिक से अधिक हरिजनों के साथ ज़मीन बन्दोबस्त कर दे। लेकिन जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, बहुत से बड़े-बड़े जिलों में, जैसे सारन, चम्पारन, दरभंगा, और मुजफ़्फरपुर में कृषि के लायक जितनी ज़मीन है वह जोती जा चुकी है। अतएव हरिजनों में वह नहीं बाँटी जा सकती। लेकिन बिहार के और हिस्सों में कुछ ऐसे ज़िले हो सकते हैं जहाँ खेती के लायक़ ज़मीन है। सरकार को ऐसी ज़मीन का अन्दाज कर लेना चाहिये और उसे हरिजनों में बाँट देना चाहिये। यदि हम शीघ्रता से हरिजनों की दशा सुधारना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम उनके साथ उक्त प्रकार का नया बन्दोबस्त करें। इस प्रकार से गाँव के पुराने ख़्यालवालों की

बाधाओं से हम हरिजनों को बचा सकते हैं। इससे उच्च वर्ण वालों को बहुत सी शिक्षायें मिलेंगी। राँची, हजारीबाग और पलामू इत्यादि ज़िलों में जिनमें घनी आबादी नहीं है, बहुत से खेतिहर मज़दूर आसानी से बसाये जा सकते हैं, यदि सरकार इस मामले को गम्भीरता से अपने हाथ में ले। खेती के लिए "अछूत" बहुत परिश्रमी मज़दूर हैं और यदि सहयोग समितियों की सहायता से उनके परिश्रम का सच्चा और ठीक उपयोग किया जाये तो ऐसे प्रबन्ध के लिए जितने धन की आवश्यकता होगी उसकी पूर्ति होने में देर न लगेगी क्योंकि परिश्रम ही तो धन है।

(२)

गृह-शिल्प

शहरों और कस्बों में उनके लिए बस्तियाँ बसानी चाहिये। उन लोगों को ऐसे गृह-शिल्पों के उपयोगी तरीके सिखाये जाने चाहिये जिनमें कलें बिना बिजली के या बिजली के द्वारा उपयोग में लाई जा सकती हों। शहरों और कस्बों में आने पर वे गाँवों की संकीर्णता से मुक्त हो जाते हैं और यहाँ जीवन को नये तौर से आरम्भ कर सकते हैं। अगर वे आर्थिक दृष्टि से उन्नति बन जायँ--शिक्षा प्राप्त करें, और स्वास्थ्य एवं सफ़ाई का ख़्याल रखें

तो छूत-छात का अस्तित्व बहुत दिनों तक नहीं रह सकता। इन आदर्श बस्तियों में यदि कोई उच्च वर्ण का कुटुम्ब रहना चाहे तो उसको इस शर्त पर रहने देना चाहिये कि वह हरिजनों के साथ बराबरी का व्यवहार रखे और उनके परिश्रम का अनुचित उपयोग न करे।

(३)

सरकारी कल कारखाने

कांग्रेस ने अपने हाथ में प्रान्त के शासन की बागडोर ले ली है, किन्तु हमारी वर्त्तमान आवश्यकताएँ इतनी अधिक और साधन इतने कम हैं कि हमारे मन्त्रियों के लिए, जनता की भलाई करने की चाह होने पर भी उनकी दशा सुधारना आसान काम न होगा। सरकार की लगभग तिहाई आमदनी आबकारी से होती है, वर्षों से कांग्रेस इस आमदनी के प्रतिकूल प्रचार कर रही थी। इस समूची आमदनी को इस समय त्याग देना व्यावहारिक नीतिज्ञता नहीं समझी जायगी। किन्तु यदि यह समूची आमदनी रख ली जाय, तो भी राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए वह काफ़ी न होगी। हम लोगों को आमदनी का नया तरीक़ा सोचना चाहिये और यदि कुछ विलासिता की चीज़ों के निर्माण को उदाहरणार्थ सिगरेट को सरकार के हाथों में दिया जाये तो सरकार की आय बहुत बढ़ सकती है। युरोप के बहुत से देश सिगरेट पर

विशेष कर लगाये हुए हैं; लेकिन हम लोगों के लिए जापान का आदर्श सामने रखना चाहिये, जहाँ कि सिगरेट बनाने का समूचा व्यापार सरकार के हाथ में है। हम लोगों का प्रान्त भी वही काम कर सकता है। हमारे प्रान्त में तम्बाकू क़ाफ़ी उत्पन्न होता है। सरकार को यह व्यापार अपने हाथ में ले लेना चाहिये। वह पिछड़ी जातियों को ऐसे कारखानों में काम देकर सहायता पहुँचा सकती है। सारांश यह कि भविष्य के औद्योगिक योजना में सरकार हरिजनों को अधिक से अधिक आगे बढ़ने का अवसर प्रदान करे।

———:०:———

६—खेतिहर-मज़दूर

जब से किसान-आन्दोलन ने जोर पकड़ा है तब से ज़मीन्दार श्रेणी किसानों की शक्ति को कमज़ोर करने के बारे में विचार करने के लिए मज़बूर हुई है। विशेष कर पिछले चुनाव के बाद जब उन्होंने देख लिया है, कि हुकूमत उनके हाथ में जा रही है जिनकी नींव किसानों पर है, तब से उन्हें और भी चिन्ता हो गई है। भेद-नीति सब से जबर्दस्त और आसान नीति है। इसीके आधार पर ज़मीन्दारों ने खेतिहर-मज़दूर आन्दोलन को वैसे ही उठाना चाहा जैसे कि पिछले चुनाव में उन्होंने त्रिवेणी-संघ को सलाह और सब से बढ़ कर रुपयों से मदद दी थी। वहाँ तो वे नाकामयाब रहे लेकिन अब उनकी शक्ति भीतर ही भीतर खेतिहर-मज़दूर दल को खड़ा करने में लग रही है। ज़मीन्दारों ने इसके लिए कुछ रुपया ख़र्च किया और अभी वे और ख़र्च करेंगे। अभी इसी वक्त खेतिहर-मज़दूर दल की दो पार्टियाँ बन चुकी हैं। मेरा तो उस दिन माथा ठनका था जब मैंने देखा कि ज़मींदारों से रुपया लेकर चुनाव में उन्हें वोट दिलाने के लिए निकले हुए दो सज्जन अब खेतिहर-मज़दूर

दल का झण्डा उठा रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि खेतिहर-मज़दूरों को कष्ट नहीं है, उनकी शिकायतें झूठी हैं, उनको अपमान का जीवन नहीं बिताना पड़ रहा है; लेकिन हमें देखना होगा कि हमारे कार्य में सफलता कैसे मिलेगी? ज़मीन्दार किसानों के ही स्वार्थ के विरोधी नहीं हैं, खेतिहर-मज़दूरों के लिए भी वे वैसे ही हैं। खेतिहर-मज़दूर अगर मज़दूर रहना चाहते हैं तो उनकी वेतन-वृद्धि तभी सम्भव है जब किसानों की आमदनी बढ़े। यदि वे किसान बनना चाहते हैं तो देखना होगा कि उनके लिए ज़मीन कहाँ से आयेगी? जिन किसानों के पास स्वयं दो बीघे चार बीघे ज़मीन हैं, निश्चय ही वे उनके लिए भी पर्याप्त नहीं फिर वे खेतिहर-मज़दूरों को क्या देंगे? मैं तो समझता हूँ, किसानों की भी आर्थिक अवस्था सिर्फ़ ज़मींदारी हटा देने से पूरी तौर पर नहीं सुधर जायगी। उसके लिए तो खेती में भी नये तरीक़े, छोटी-छोटी मशीनें और रसायनिक खाद का प्रयोग करना होगा। खेतिहर-मज़दूरों के लिए यदि वे खेतिहर या किसान बनना चाहते हैं तो उपाय सिर्फ एक ही है कि अब से जितनी बकाश्त या जिरात की ज़मीन ज़मीन्दारों से निकले और जितनी खेती के लायक पड़ी हुई ज़मीन (पर्ती व जंगल) प्रान्त के किसी ज़िले में पलामू, राँची, हजारीबाग आदि मिले उन्हें खेतिहर-मज़दूरों के लिए रिजर्व कर दी जाय। मैं समझता हूँ, वे लोग

बड़ी भारी गल्ती करेंगे यदि तत्काल जो कुछ हो सकता है उसे छोड़ कर वे किसानों से झगड़ा मोल लेने जायेंगे।

बिहार में खेतिहर-मज़दूर का जो आन्दोलन चला है, उसके प्रवर्त्तकों में कुछ 'हरिजनों' के नेता भी शामिल हैं, उन भाइयों से मेरा विनम्र निवेदन है कि खेतिहर-मज़दूर के नाम से अपना सङ्गठन करके, हरिजन भाई लोग (मैं इस शब्द से बहुत घृणा करता हूँ लेकिन अपने अर्थ को स्पष्ट करने के लिए इसका इस्तेमाल कर रहा हूँ) गल्ती कर रहे हैं। उनको सीधा शुद्ध अपना एक सङ्गठन रखना चाहिये क्योंकि उनकी समस्यायें इतनी विकट हैं और सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक सभी क्षेत्रों में फैली हुई हैं कि यदि वे खेतिहर-मज़दूर के नाम पर छूत-अछूत सब को जमा करने लगेंगे तो वे हवा हो जायेंगे। जहाँ कहीं कुछ पर्ती बकाश्त, जिरात या जंगल की ज़मीन मिलेगी वह सभी खेतिहर-मज़दूरों के लिए यदि दे दी जायगी तो नतीजा यह होगा कि छूत जाति-वाले, जिनकी पहुँच आसानी से अधिकारियों तक हो सकती है, उन जगहों को ले लेंगे और हरिजन के पल्ले बहुत कम पड़ेगा। छूत जाति के खेतिहर-मज़दूरों की अवस्था उतनी हीन और अन्यायपूर्ण नहीं है जैसी कि अछूत कही जानेवाली जातियों की। छूत जातिवाले पान की दूकान भी खोल सकते हैं, हलवाई भी

बन सकते हैं, होटल भी चला सकते हैं और पचास तरह के और काम कर सकते हैं। प्राइवेट नौकरियों में भी उनको आसानी है लकिन वही बात अछूत कही जानेवाली जातियों के लिए नहीं कही जा सकती। सामाजिक अत्याचार जो अछूत कही जानेवाली जातियों पर हो रहा है उसके कारण उनकी आर्थिक उन्नति के सभी मार्ग बन्द हैं, उनकी सारी शक्ति चाहिये तो थी इस ओर लगती जिससे वे अपने को शिक्षा और आर्थिक उन्नति के दूसरे साधनों को प्राप्त कर, अपनी अवस्था को कुछ बेहतर बनाते और साथ ही रास्ते में पड़नेवाली रुकावटों को दूर करते। ऐसे समय में किसानों के अत्याचारों को लेकर झगड़ा पैदा करने में अपनी ही शक्ति निर्बल होगी।

खेतिहर-मज़दूरों को ख़्याल करना चाहिये कि उनकी आर्थिक मुक्ति साम्यवाद ही से हो सकती है और जो क्रान्ति आज शुरू हुई है वह साम्यवाद ही पर ले जाकर के रहेगी। उसके सिवा भले दिनों को दिखलानेवाला कोई दूसरा रास्ता नहीं है। सारन और मुज़फ़्फ़रपुर जैसे ज़िलों में आदमी पीछे छै-छै सात-सात कट्ठा खेत पड़ता है। भला, वहाँ इतने से कहीं इन्सान की ज़िन्दगी बसर की जा सकती है? ज़रा-ज़रा से चार-चार कट्ठे के खेतों में वैज्ञानिक खेती सम्भव ही कहाँ है? हमारी समस्यायें तो तभी हल होंगी जब

ज़मीन्दारी हटा दी जाय, खेतों पर भी किसी व्यक्ति का अधिकार न होकर राष्ट्र का अधिकार हो। गाँव के सभी खेतों की मेंड़ें हटा-कर एक खेत बना दिया जाये और ट्रैक्टर के जरिये खेत जोते जायें, लोग मिलकर सामूहिक खेती करें और उस खेती में नये से नये आविष्कारों तथा कृषि-उपयोगी साधनों को बर्ता जाय। तभी जाकर हम एक बीघे में जापान की तरह सात सौ आठ सौ रुपया की चीज़ पैदा कर सकेंगे और तभी जाकर यदि एक दो ज़िले में सूखा पड़ जाय या बाढ़ आ जाये तब भी दूसरे ज़िले की पैदावार से लोगों को भूखा नहीं मरना पड़ेगा। सूखा और बाढ़ ऐसी चीज़ नहीं है कि जिससे लोग गृहहीन हो जायें और अन्न बिना भूखे मरने लगें। बिहार में तीन करोड़ आदमी बसते हैं। इनमें दो करोड़ तो अवश्य मिहनत का काम कर सकते हैं। इतने हाथ यदि मकान और गाँव बसाने के काम के लिए एक महीने के लिए भी लग जायें तो क्या अपने घरों को ऊँची जगह बना कर नहीं रह सकते हैं? मनुष्य का परिश्रम ही तो सब चीज़ बनाता है, बाक़ी साधन तो हमारे प्रदेश में सभी मौजूद हैं। और खेती से तो, इस गये बीते तरीके से करने पर भी, इतना अनाज हमारे यहाँ पैदा हो रहा है जिसे बिहार वाले एक वर्ष से ज़्यादा दिन तक खा सकते हैं। एक जगह के लोगों को अनाज बेचने और बाहर निकालने की कठिनाई

पड़ रही है और दूसरी जगह लोग भूखों मर रहे है। हालाँकि दूसरी जगह के लोग अपने परिश्रम को देने के लिए तैयार हैं फिर क्या वजह है कि एक जगह के आदमी भूखों मरें। साम्यवाद ही हमें बतलायेगा कि हमें दो-चार व्यक्ति के घर नहीं रखने हैं, हमें सारे तीनों करोड़ व्यक्तियों का एक घर बनाना पड़ेगा और फिर सारे हाथों और दिमागों को उस परिवार की जीविका, भरण-पोषण तथा शिक्षा और सांस्कृतिक उन्नति के लिए लग जाना पड़ेगा। क्रान्ति के मार्ग में हम लोगों को किसी तरह का रोड़ा नहीं अटकाना चाहिये और खेतिहर-किसानों को तो यदि कोई आशा है तो क्रान्ति के पूर्णतया सफल होने ही में। उनको यह ख़्याल रखना चाहिये कि जो साम्यवादी आज किसानों को सङ्गठित कर रहे है, उन्हें अपने अधिकारों पर डट जाने के लिए तैयार कर रहे हैं; वे अच्छी तरह जानते है कि सिर्फ़ ज़मीन्दारी को हटा देने से काम नहीं चलेगा—आगे चलकर हमें खेती पर भी व्यक्तिगत अधिकार अस्वीकार करना पड़ेगा—अर्थात् किसान, खेतिहर-मज़दूर सभी उस खेत के मालिक होंगे। सिर्फ़ खेती से ही तो सारा काम नहीं चल सकेगा, हमें देश में कारख़ानों और मिलों का प्रसार करना पड़ेगा और तब कहीं हमारी आर्थिक दरिद्रता दूर होगी। क्रान्ति को आगे बढ़ने दो, बस यही खेतिहर-मज़दूरों का ध्येय होना चाहिये।

१०—रूस में ढाई मास

"मैं कुल साढ़े चार मास स्वदेश से बाहर रहा—डेढ़ मास रूस जाते समय ईरान में, दो सप्ताह आते समय अफ़गानिस्तान में, ढाई मास सोवियत रूस में। गया था दर्रा-बोलन से, आया ख़ैबर के दर्रे से। हिन्दुस्तान और रूस की सीमा के भीतर तो रेलवे ट्रेनें मिलीं, ईरान और अफ़गानिस्तान की सैर मोटर द्वारा हुई, कास्पियन समुद्र जहाज़ से। १२ नवम्बर को सोवियत-सीमा में प्रवेश किया, २६ जनवरी को वहाँ से प्रस्थान। इस प्रकार रूस के जाड़े के अनुभव का मौका मिला। सिवाय काकेशश और मध्य-एशिया के कुछ भाग के, सभी जगह की भूमि बर्फ़ से अच्छा-दिन थी। खेत आदि की जुताई सिर्फ़ उन्हीं भूभागों में देखी।

सोवियत-रूस के बारे में भ्रम तो अभी बहुत समय तक फैलता रहेगा। सारी दुनिया के अख़बारों के गला फाड़-फाड़ कर असफलता की पुकार करने पर भी संसार में साम्यवाद का प्रभाव इतनी तेज़ी से बढ़ रहा है कि यदि पूंजीवादी जगत् सोवियत-देश

में साम्यवाद की सफलता का प्रचार करने लगे, तो फिर उसकी क्या गति होगी ? सोवियत-सीमा से दूर के देशों की बात छोड़ दीजिये। बक्षु (आमू) नदी सोवियत, और अफ़ग़ानिस्तान की सीमा है। मैंने अफ़ग़ानिस्तान के भीतर के लोगों को बड़ी गम्भीरता से कहते सुना—'रूसी-सीमा के भीतर रोटी का अकाल है।' उनको यह नहीं मालूम कि वर्त्तमान शताब्दी में रूस में सब से अच्छी फसल १९१३ में हुई थी। रूस में १९३७ में गेहूँ की फसल १९१३ से ठीक दुगुनी हुई। १९३०-३१ में धनी किसानों की स्वार्थपरता और प्रचार के कारण खेत कम बोये गये थे; मवेशी मार डाले गये थे, इसलिए रोटी का अकाल-सा पड़ गया था। उस वक्त कुछ 'कुलक' सोवियत-सीमा से भाग कर अफ़ग़ानिस्तान में भी चले गये थे। १९३०-३१ की आर्थिक अवस्था से अब ज़मीन-आसमान का अन्तर है, तो भी इस पार के अफ़ग़ानों के लिए अभी तक सोवियत-राष्ट्र के लिए 'रोटी का अकाल' चला ही जा रहा है।

लोगों की आर्थिक अवस्था, शिक्षा और संस्कृति का धरातल हर साल, क्या हर महीने ऊँचा होता जा रहा है। हर साल पांच दस और १५ फ़ी सदी तक वेतन बढ़ाया जा रहा है; और दूसरी ओर जैसे-जैसे चीज़ों की उपज फैक्टरियों की वृद्धि और कार्यकर्त्ताओं

की कार्यकुशलता के अनुसार बढ़ती जा रही है, वैसे ही वैसे चीज़ों का दाम घटाया जा रहा है। वेतन देना और चीज़ों का बेचना सरकार के हाथ में है। पिछले दो वर्षों में खाने-पीने की कितनी ही चीज़ों की क़ीमत में पचीस-पचीस, तीस-तीस फ़ी सदी कमी की गई है। मेरे वहाँ रहते अस्पताल की दाइयों की तनख़्वाहों में १५ फ़ी सदी की वृद्धि की गई। इस प्रकार वेतन-वृद्धि और चीज़ों के मूल्य घटाने से एक ओर लोग जीवन की सुख-सामग्री को अधिक पा रहे हैं, दूसरी ओर वहाँ ५-६ वर्षों से बेकारी एक दम उठ गई है। स्वस्थ रहने पर आदमी के लिए काम हाज़िर है, बीमारी या किसी और कारण से काम करने के अयोग्य होने पर सारा भार सरकार अपने ऊपर लेती है। इस प्रकार मनुष्य को 'कल की चिन्ता' बिलकुल नहीं है। इसमें शक नहीं कि इङ्गलैण्ड और अमरीका के मज़दूर रूस के बहुत से मज़दूरों से इस वक्त अधिक वेतन पाते हैं, लेकिन जहाँ उन देशों के मज़दूरों के सर पर हमेशा बेकारी की नंगी तलवार लटकती रहती है वहाँ सोवियत-श्रमजीवी 'कल के लिए' बिलकुल निश्चिन्त है। साथ ही उसका वेतन भी दिन पर दिन आगे की ही ओर बढ़ रहा है।

जिस नये सोवियत-विधान के अनुसार १२ दिसम्बर को महासोवियत के ११४३ सभासदों (Deputies) का चुनाव

हुआ है, उसके महत्व को कम करने के लिए पूंजीवादी देशों ने बड़ी कोशिश की और अब भी कर रहे हैं। कोई कहता है—'चुनाव क्या है धोखे की टट्टी है।' कोई कहता है—'स्तालिन और कम्यूनिस्ट-पार्टी ने लोगों को धमका कर अपने लिए वोट लिया है।' नया विधान कहाँ तक प्रजासत्तात्मक है और कहाँ तक लोगों को वोट देने की स्वतन्त्रता उसमें है, वह निम्न बातों से मालूम हो जायगा—

(१) १२ दिसम्बर १९३७ से पहले पुराने ज़मीन्दारों, पूंजीपतियों पुरोहितों, कुलकों धनी किसान और क्रान्तिविरोधियों की सन्तानों को वोट देने या उम्मीदवार होने का अधिकार नहीं था। नये विधान ने १८ वर्ष से ऊपर की अवस्था के सभी स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार दे दिया। धन, विद्या आदि की योग्यता का इसमें कोई ख़्याल नहीं है।

(२) वोट का पर्चा और लिफ़ाफ़ा हर एक आदमी को गुप्त रूप से निशान करके डालने के लिए मिलता है। वोट देने का ढंग ऐसा रखा गया है कि वोटर ने किसको वोट दिया, यह सिर्फ़ वही जान सकता है।

(३ जिसे ५१ फ़ी सदी वोट नहीं मिले, वह सभासद नहीं चुना जाता।

(४) नामजद करने का अधिकार ट्रेड-युनियन आदि संस्थाओं

अथवा किसी भी सार्वजनिक सभा को दिया गया है। चूंकि सोवियत का कोई व्यक्ति ऐसी सम्पत्ति नहीं रखता जिसकी सहायता से वह चुनाव का प्रचार कर सके, या बड़ी-बड़ी सभायें सङ्गठित कर सके, चुनाव के प्रचार का सारा खर्च व्यक्ति के ऊपर न होकर संस्थाओं के ऊपर पड़ता है, इसीलिए नामजद करना भी उन्हीं के हाथ में दिया गया है।

सोवियत-चुनाव के नियमों में कोई ऐसी बात नहीं है कि जिससे एक चुनाव-क्षेत्र में दूसरा प्रतिद्वन्दी उम्मीदवार न खड़ा किया जा सके, लेकिन कम्यूनिस्ट-पार्टी अपनी सेवाओं से वहाँ इतनी सर्वप्रिय पार्टी है कि मुक़ाबले में पराजय का निश्चय समझ सामने आ ही कौन सकता है? केन्द्रीय कौंसिल के कुछ पुनर्निर्वाचनों में भारतीय कांग्रेस के उम्मीदवारों के सामने कोई उम्मीदवार जैसे खड़ा नहीं हुआ, वैसे ही वहाँ भी प्रतिद्वन्दी को खड़ा होने की हिम्मत नहीं होती।

सोवियत और स्तालिन के विरोध में हज़ारों झूठी बातों का प्रचार करना और साथ ही त्रोत्सकी की सेवाओं और योग्यता के लिए आसमान तक पुल बाँधना पूंजीवादी पत्रों का धर्मसा हो गया है। त्रोत्सकी की प्रशंसा और साम्यवाद में उसकी निष्ठा को तो ऐसे शब्दों में चित्रित किया जाता है कि मालूम होता है मानो ये पूंजी-

वादी पत्रकार संसार में साम्यवाद लाने के लिए लालायित-से हो रहे हैं। सोवियत साम्यवाद की सफलता का धरती पर एक ठोस साकार रूप है; इसलिए वे उसको लोगों की आँखों से ओझल रखना चाहते हैं। उसकी जगह पर उसके विरोधियों और उनके विरोधी मनोभावों को वे लोगों के सामने लाना चाहते हैं। सोवियत शासन और उसका प्रधान नेता स्तालिन कितना सर्वप्रिय है, यह इसी से मालूम हो सकता है कि पिछले चुनाव में १२ दिसम्बर की-सी सर्दी और धरती के षष्ठांश तक विस्तृत देश में कष्ट उठा कर साढ़े ९६॥ फ़ी सदी वोटरों ने अपना वोट दिया था। पिछले दस वर्षों में अमेरिका, इङ्गलैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में निर्वाचन हुए हैं, लेकिन कहीं पर ८३ फ़ीसदी से अधिक लोग निर्वाचन स्थान पर नहीं पहुँचे। स्तालिन के निर्वाचन-क्षेत्र के वोटरों में से तो एक भी उस दिन अनुपस्थित नहीं रहा। स्तालिन की बात को वहाँ सभी शिरोधार्य मानते हैं। कार्ल मार्क्स साम्यवाद के तत्व का द्रष्टा था, उसने इस सचाई को ऐतिहासिक प्रमाणों, आर्थिक कठिनाइयों और वैज्ञानिक युक्तियों से प्रमाणित कर संसार के श्रमजीवियों के सामने रखा। कितनों के दिमाग ने इस सचाई को स्वीकार कर लिया; लेकिन पूंजीवादियों के स्वार्थ और उनकी रक्षा के बड़े-बड़े साधन उस सिद्धान्त के धरती पर आने के रास्ते में बाधक थे।

लेनिन की विशेषता थी एक सफल साम्यवादी क्रान्ति को भूतल पर लाना, जिसमें कितनी ही बार उसे पूर्ण असफलता ही मिली थी। ख़ैर, साम्यवादी क्रान्ति जार के साम्राज्य में हो गई। देशी और विदेशी पूंजीवादियों ने उसे हर तरह दबाने की कोशिश की और वह उसमें विफल हुए लेकिन तो भी लेनिन के समय तक उपज के सभी साधनों में से बहुत कम व्यक्तियों के हाथ से निकल कर समाज के हाथ में आये थे। खेती ही नहीं, वाणिज्य-व्यवसाय भी बहुत कुछ व्यक्तियों के हाथ में था, जबकि १९२४ ई० के आरम्भ में लेनिन का देहान्त हुआ। शहर से लेकर गाँव तक की जनता को साम्यवादी समाज के रूप में परिणत करना स्तालिन का काम था। यह मार्क्स और लेनिन के काम से कम महत्वपूर्ण नहीं है। जिस वक्त लेनिन की मृत्यु के बाद कल-कारख़ानों को बढ़ा कर देश के उद्योगीकरण का कार्य-क्रम स्तालिन ने सामने रखा, तो एक तरफ़ बुखारिन आदि नरम-दली कहते थे कि जल्दी हो रही है, इसमें सफलता नहीं होगी, देश को भारी नुक़सान पहुँचेगा। दूसरी ओर त्रोत्सकी जैसे गरमदली कहते थे कि बिना सारे संसार में क्रान्ति हुए, साम्यवाद एक मुल्क में स्थापित नहीं हो सकता। इसलिए हमें अपनी सारी शक्ति रूस को ही साम्यवादी और उद्योगपूर्ण बनाने में न लगाकर, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्ति की ओर ज़्यादा ध्यान देना

चाहिये। स्तालिन ने इन विरोधों के बावजूद अपने प्रोग्राम को लोगों के सामने रखा और उसे उसमें सफलता हुई। प्रथम पञ्च-वार्षिक योजना के समय भी दाहने-बायें पार्टीवाले इसी तरह विरोध करते रहे, लेकिन सोवियत जनता ने अपनी आँखों इन योजनाओं द्वारा आशातीत आर्थिक सफलता देखी। स्तालिन के नेतृत्व में रूस के नष्ट-प्राय उद्योग-धन्धे १९२७ तक महायुद्ध के पहले की अवस्था से आगे बढ़ गये और प्रथम और दूसरी पञ्च-वार्षिक योजनाओं की समाप्ति के बाद तो सोवियत-प्रजातन्त्र यूरोप का सब से बड़ा उद्योग-धन्धा-परायण देश हो गया। तृतीय पञ्च-वार्षिक योजना द्वारा सोवियत-प्रजातन्त्र चाहता है कि अमरीका को भी मात कर उद्योग-धन्धे में वह संसार में प्रथम स्थान ग्रहण कर ले। इन पञ्च-वार्षिक योजनाओं का आरम्भिक वर्षों में लोग मज़ाक उड़ाया करते थे और अब सफलता के बाद हर एक देश उनका अनुकरण करना चाहता है। इन योजनाओं द्वारा सोवियत जनता ने अपने भूख और बेकारी के दिनों की जगह पर सुख और समृद्धि के दिन देखे; अविद्या और निरक्षरता की जगह ज्ञान और कला का प्रचार सार्व-जनिक होते देखा। अभी दस वर्ष पहले उनकी कैसी हीन दशा थी यह बहुतेरे सोवियत नागरिकों को भले प्रकार मालूम है। स्तालिन की योजनाओं की यही सफलतायें हैं, जिन्होंने उसे इतना

लोकप्रिय बना दिया है। कुछ लोगों के लिए इस लोकप्रियता का समझना मुश्किल है। वह समझते हैं कि महज़ एक आदमी, जो न ईश्वर की तरफ़ से भेजा गया है, जिसमें न वैसे दैवी चमत्कार हैं, भला कैसे इतना जनप्रिय हो सकता है ?

जब तब कितने ही षड्यन्त्रकारियों को सोवियत सरकार ने जो दण्ड दिये हैं उसे बढ़ा-चढ़ा कर पूंजीवादी पत्रों ने इस प्रकार संसार में फैलाया है कि कितने ही लोग समझते हैं कि सोवियत शासन की नींव बहुत कमज़ोर है, हिंसा और आतङ्कवाद के सहारे उनका शासन चल रहा है। वोरोशिलोफ, मोलोतोफ बुदयन्नी ब्लूचर, आदि जैसे क्रान्ति के महानायकों को अब भी वैसी ही लगन से काम करते देखते हुए भी जहाँ दो-चार पुराने क्रान्तिकारियों में से अपने अपराध के लिए दण्डित हुए कि पूंजीवादी पत्रों ने हल्ला करना शुरू किया कि "लेनिन के साथी सभी क्रान्तिकारी स्तालिन के षड्यन्त्र के शिकार हो चुके। सजा पाये हुए लोगों की ओर दृष्टि डालने से मालूम होगा कि उनमें सभी ऐसे बुद्धिजीवी व्यक्ति हैं, जिन्हें अपनी महत्वाकांक्षाओं में नाउम्मीद होने के कारण सफल पार्टी और उसके नेताओं के प्रति विद्वेष पैदा हो गया है। शिक्षित बुद्धिजीवी वर्ग चाहे वैसे कितना ही उदार और त्यागी हो, लेकिन उससे स्वार्थ और महत्वाकांक्षा को धक्का लगते ही वह इतना

नीचे उतर आता है जितना नीचे अशिक्षित साधारण जन उतरने की हिम्मत नहीं रख सकते। सोवियत-प्रजातन्त्र में उद्योग-धन्धे बहुत ज़्यादा केन्द्रित हो गये हैं और उनमें यन्त्रों का अत्यधिक प्रयोग हुआ, इसीलिए एक व्यक्ति असन्तुष्ट होने पर ज़्यादा नुक़सान कर सकता है। एक यन्त्र विशेष को ख़राब कर वह दो सप्ताह दस कर्मचारियों को बेकार बैठा सकता है रेल की सूचनाओं में गड़बड़ी कर ट्रेनों को लड़ा सकता है, गहरी खानों की पम्पों को ख़राब कर उनमें पानी भरवा सकता है। जिन लोगों को हाल में सोवियत सरकार ने कड़ी-कड़ी सज़ायें दी हैं, उन्होंने यही अपराध किये थे। उनके पीछे जनता की कोई सहानुभूति नहीं, वस्तुतः वे जेलों में पकड़ कर बन्द न किये गये होते, तो लोग क्रोधान्ध हो, उन्हें अमरीका के गोरों की तरह 'लेचिन' से मार डालते। ऐसे लोगों को सोवियत-शासन और स्तालिन के ज़ुल्म का 'शहीद' उद्घोषित करना विदेशी पूंजीवादियों के अपने मतलब की बात है और इस प्रकार सच का झूठ करना तभी तक होता रहेगा, जब तक कि सोवियत शक्ति एक भारी युद्ध में अपनी सबलता को सिद्ध नहीं कर देती और क्या जानें, उसके बाद भी, जबतक कि भूमण्डल पर पूंजीवाद का अस्तित्व है, ऐसे झूठे प्रचार भी कभी बन्द होंगे?

—:o:—

नया हिन्दी साहित्य

निबंध

निबंध-प्रबोध--रामरतन भटनागर ... १।।।)

तुम्हारी क्षय--राहुल सांकृत्यायन ... ।।।)

अन्धेर नगरी विश्वविद्यालय--'फ़रियाद' ... ।।)

कहानी

बोल्गासे गंगा--राहुल सांकृत्यायन ... ४)

गीदड़ का शिकार--चग़ताई ... ।।।)

दर्शन

वैज्ञानिक भौतिकवाद--राहुल सांकृत्यायन ... १।।)

दर्शन-दिग्दर्शन-- ,, ,, ... १२)

बौद्ध-दर्शन-- ,, ,, ... २।)

जीवन साहित्य

नये भारतके नये नेता--राहुल सांकृत्यायन ... ५।।।)

राहुलजीका अपराध ... ।=)

महात्मा गांधी--शिव सेवक शर्मा ... ≡)

समाज शास्त्र

बाईसवीं सदी ,, ,, ... १।)

प्रकाशक

किताब-महल, प्रयाग

बाईसवीं सदी

राहुल सांकृत्यायन

रूस में मजूरों-किसानों का राज्य है, वहाँ साम्यवादी दुनिया है। आज साम्यवाद के बिना मानवता के आगे बढ़ने का कोई रास्ता नहीं है। दुनिया में साम्यवाद आ जायगा। भारत भी साम्यवादी हो जायगा। हमारी पाँच-छै पीढ़ियाँ अपने बल, विद्या और शिल्प का निराबाध-रुपेण उपयोग करते हुए, बाईसवीं सदी में किस तरह के जगत् को बनाने में सफल होंगी, इसे जानने की आपको जरूर उत्सुकता होगी। इस ग्रन्थ में लेखक ने बाईसवीं सदी के साम्यवादी भारत के ग्रामों, नगरों, कृषि, गोपालन, उद्योग-धंधे, यातायात, शिक्षा, शिशुपालन आदि का उपन्यास के रूप में बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। इसे पढ़ते वक्त आपके आगे आनेवाले भारत और उसके समाज, उसकी सभ्यता और संस्कृति का सजीव चित्र आ जायगा।

मूल्य १।)

किताब-महल • प्रकाशक • इलाहाबाद

केवल कवर इलाहाबाद ब्लाक वर्क्स लि० इलाहाबाद में छपा।